दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९४ तंत्री–जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २३ अंक नं० १०

वैराग्य

* वैराग्यवंत जीव को राग के बंधन नहीं रोक सकते।
* वैराग्य में अनुपम सुख है।
* 'सुख की सहेली है अकेली उदासीनता।'
  उदासीनता अध्यात्म की जननी है।
* 'ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमांहि सहज वैरागी।'
* वैराग्यवान जीव को कहीं भय नहीं है; वह सर्वत्र निर्भय है।
* वैराग्यरूपी कवच, सर्व प्रसंगों पर जीव को कषायों से बचाता है।
* सच्चे वैराग्य के बिना ज्ञान का परिणमन नहीं होता।
* राग से विरक्त होकर परिणति का वेग स्वभाव की ओर ढला, वही सच्चा वैराग्य है।
* अस्ति–नास्ति की भाँति ज्ञान और वैराग्य मोक्षमार्ग में एक–दूसरे के साथी हैं।

—ऐसे वैराग्य–परिणत संतों को नमस्कार हो!

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

फरवरी १९६८] वार्षिक मूल्य ३) (२७४) एक अंक २५ पैसा [माघ सं० २०२४

विषय-सूची

१. सर्वज्ञ की प्रतीति और धर्म

२. भजन (आध्यात्मिक)

३. अशुद्धता मिटाने का सच्चा उपाय

४. जीव का स्वभाव

५. सुखी कौन

६. ज्ञान गोष्ठी

७. श्रावक धर्म की अच्छी-अच्छी बातें

८. यशोधर चरित्र

९. आचार्यकल्प श्री टोडरमलजी के वचनामृत

१०. विविध वचनामृत

११. सभी चिन्ता को छोड़कर निश्चिन्त रूप से चैतन्य का चिन्तन कर

१२. हे जीव! भेदज्ञान के बल से निर्भय हो

१३. ध्येय को शिथिल न होने दें

१४. जैन शिक्षण कक्षा में प्रश्नोत्तर

आत्मधर्म हिन्दी का

सोनगढ़ से प्रकाशन प्रारंभ

अब, आगमी महीने से प्रत्येक महीने की २० तारीख को आत्मधर्म पत्र हिन्दी का सोनगढ़ से ही प्रकाशित हुआ करेगा, सो पाठकगण नोट कर लेवें।

मैनेजर

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़

नया प्रकाशन

जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १

(पाँचवीं आवृत्ति)

जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित जैन सिद्धांत ज्ञान में तत्त्वज्ञानी की प्राप्ति में प्रवेश करने के लिये अति स्पष्टता से द्रव्य-गुण-पर्यायों का ज्ञान कराया है। गुरुवर्य श्री गोपालदासजी बरैया कृत जैन सिद्धांत प्रवेशिका के दूसरे अध्याय का आधार मुख्यता से लिया गया है। धर्म जिज्ञासुओं में बहुत मांग चालू रही है। अत: यह पाँचवीं बार सेठी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित हुई है। (चौथी आवृत्ति में तीन हजार पुस्तकें छापी थी) पृष्ठ संख्या १३०, बढ़िया कागज, मूल्य ७५ पैसा थोक मंगाने पर २५ टका कमीशन।

अध्यात्म रस से भरपूर

''आत्म धर्म''

मासिक पत्र के ग्राहक बनिये

एवं अपने मित्रों को बनाइये

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

फरवरी : १९६८ ☆ वर्ष २३वाँ, माघ, वीर नि०सं० २४९४ ☆ अंक : १०

सर्वज्ञ की प्रतीति और धर्म

निर्मल भेदज्ञान द्वारा आत्मा का ज्ञान और उसमें लीनता प्रगट करके जिन्होंने बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह छोड़ा तथा शुक्लध्यान की श्रेणी के द्वारा चार घातिकर्मों को नष्ट करके केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय प्रगट किये – ऐसे सर्वज्ञदेव परमात्मा के वचन सत्य धर्म का निरूपण करनेवाले हैं; ऐसे सर्वज्ञ की पहचान करने से आत्मा के पूर्ण ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है और तभी से धर्म का प्रारंभ होता है। जो जीव सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता, उसको आत्मा की ही प्रतीति नहीं है, धर्म की ही प्रतीति नहीं है।

सर्वज्ञ के स्वरूप में जिसे संशय है, सर्वज्ञ की वाणी में जिसे संदेह है, सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई भी सच्चे धर्म के प्रणेता नहीं हैं, ऐसा जो नहीं पहिचानते और विपरीत मार्ग में दौड़ लगाते हैं, वे जीव मिथ्यात्वरूपी महा पाप को बाँधनेवाले पाप जीव हैं—ऐसा कहकर धर्म के जिज्ञासुओं को सर्वप्रथम सर्वज्ञ और सर्वज्ञ कथित मोक्षमार्ग की पहिचान करने को कहा है।

अरे! तू ज्ञान की प्रतीति किये बिना धर्म कहाँ से करेगा? राग में स्थित रहने से सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं होती; रागादि सर्व दोष रहित निर्मल विज्ञानघनस्वभाव के लक्ष्य से राग से भिन्न होकर ज्ञानरूप-ज्ञानानुभूतिरूप होने से सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। ऐसे सर्वज्ञ की और ज्ञानस्वभाव की पहिचान करके उनके वचनानुसार धर्म की प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि के जो वचन हैं, वह भी सर्वज्ञ के अनुसार हैं क्योंकि उनके हृदय में सर्वज्ञ का निवास है।

भजन

प्राचीन काल में ज्ञान-वैराग्य और भक्ति प्रेरित भजनों की विशेष प्रथा थी तथा इनका प्रचार भी बहुत था... वर्तमान फिल्मी युग में ऐसे भजन की बहुत अल्पता देखने सुनने में आती है। उपदेश प्रेरक प्राचीन भजनों में से पसंद करके आपको कभी-कभी यहाँ लिखता रहूँगा।

[अहो मारा नसीब जागे... यह राग]

अहो, यह उपदेश मांही खूब चित्त लगावना,
होयगा कल्याण तेरा सुख अनंत बढ़ावना.... ।टेक ॥
रहित दूषण विश्वभूषण ने देव जिनपति ध्यावना;
गगनवत निर्मल अचल मुनि तिनहि शीष नमावना... अहो ॥१ ॥
धर्म अनुकम्पा-प्रधान, न जीव कोई सतावना;
सप्त तत्त्व परीक्षा करी हृदय श्रद्धा लावना... अहो ॥२ ॥
पुद्गलादिकतैं पृथक् चैतन्य ब्रह्म लखावना,
या विधि सम्यक् विमल धारी शंकादि पंक बहावना... अहो ॥३ ॥
रुचे भव्यन को वचन ये शठन को न सहावना,
चन्द्र लखि जिमि कुमुद विकसे उपल नहिं विकसावना... अहो ॥४ ॥
भागचंद विभाव तजि, अनुभव स्वभावित भावना,
या शरण, न अन्य जगतारण्य में कहुं पावना... अहो ॥५ ॥

इस भजन के रचयिता कवि भागचंदजी आध्यात्म के अनुभवी प्रेरणास्पद उपदेश देते हुए कहते हैं कि-अहो, भव्य जीव! इस उपदेश में तेरा चित्त बराबर लगाना, जिससे तेरा कल्याण होकर अनंत सुख की प्राप्ति होगी; प्रथम तो दूषणतारहित और जगत की भूषणतारूप भगवान जिनेन्द्रदेव को पहिचान कर उनका ध्यान करना। आकाश के समान निर्मल-अचल जो दिगम्बर मुनि हैं, उनको ही मस्तक झुकाना-प्रणाम करना। जिसमें किसी भी जीव को सताने की लालसा नहीं, ऐसे अनुकम्पाप्रधान धर्म (जैनधर्म) को तू मानना। सात तत्त्व को पहिचानकर हृदय में उनकी श्रद्धा करना; पुद्गलादिक से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही ध्यान करना। इसप्रकार निर्मल सम्यक्त्व को धारण करके शंकादि दोषरूप पंक (कीचड़) को धो डालना। इसप्रकार के वचन भव्य जीव को तो रुचिकर होंगे परंतु शठ (अभव्य) दुष्ट जीवों को रुचिकर नहीं मालूम होंगे, जिसप्रकार चंद्रमा को देखकर तू फूल विकसित हो जाते हैं परंतु पत्थर विकसित नहीं हो सकते। हे जीव! तू विभावों को छोड़कर स्वभावित-स्वभावरूप ऐसे अनुभव को भाना। इस संसार वन में ऐसा अनुभव ही शरणरूप है, अन्य कोई शरणरूप नहीं।

अशुद्धता मिटाने का सच्चा उपाय

(समयसार कलश टीका प्रवचन २१८-१९-२०)

[शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना ही अशुद्धता नष्ट करने का उपाय है। जो जीव परद्रव्य से अपने को राग-द्वेष मानता है, उसकी अशुद्धता कभी दूर नहीं होगी। जो पर को अपना मानता है, उसे अशुद्धता नहीं होगी तो और क्या होगा ? पर के कारण जो अशुद्धता मानता है, उसको अशुद्धता दूर करने का अवसर ही नहीं मिलेगा, क्योंकि अशुद्धता पर से मानी है, इसलिये उसे दूर करने के लिये वह पर की ओर देखता रहेगा, और पर की ओर देखने से अशुद्धता कभी दूर नहीं हो सकती। शुद्धस्वभावरूप से अपना अनुभव करे, तभी अशुद्धता दूर हो सकती है। इसलिये शुद्धस्वरूप का अनुभव करना ही अशुद्धता को दूर करने का उपाय है, ऐसा हे जीवो! तुम जानो।]

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश का अखंडधारारूप परिणमन अपने-अपने स्वरूप से है, ऐसा ही अनुभव में निश्चित होता है, और ऐसे ही वस्तु सधती है, अन्यथा विपरीत है।

वस्तुस्वरूप की सच्ची दृष्टि से देखने पर प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने परिणाम की अखंडधारा में वर्त रहा है, इसलिये अन्य द्रव्य आत्मा को राग-द्वेष का उत्पादक किंचित् भी नहीं है। द्रव्य ही अपनी परिणाम धारा में वर्त रहा है, वहाँ दूसरा कोई उसमें क्या करेगा ? कुछ नहीं कर सकता—ऐसा वस्तुस्वरूप निश्चित है और इसीप्रकार वस्तु सिद्ध होती है अर्थात् वस्तुस्वरूप की सच्ची श्रद्धा होती है। इससे विपरीत माने तो वह वस्तुस्वरूप नहीं है।

अनुभव से ऐसा निश्चित होता है—अर्थात् वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान से ऐसा निर्णय होता है कि प्रत्येक वसतु की पर्याय उसके अपने से होती है। वस्तु सत् है तो उसकी पर्याय उससे होगी या दूसरे से ? क्या वस्तु के परिणाम प्रवाह की धारा किसी से टूट सकती है ? नहीं, तो फिर वस्तु के परिणाम को कोई दूसरा कैसे करेगा ? किसी प्रकार नहीं कर सकता। मेरी पर्याय का कार्य मेरा द्रव्य करता है, अपनी निर्मल पर्याय का कार्य मेरा द्रव्य करता है, अपनी निर्मैल पर्याय की धारा से मैं ही परिणमित होता हूँ—ऐसा निर्णय करने पर स्वभाव-सन्मुख ही

देखना रहा और पर के साथ एकत्वबुद्धि की मिथ्या भ्रांति दूर हो गई। इसप्रकार वस्तुस्वरूप के निर्णय से मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है।—इसीप्रकार वस्तुस्वरूप सधता है, इससे अन्य प्रकार माने तो उसमें विपरीतता है।

राग-द्वेष पर के कारण नहीं है तथा वह शुद्ध सत्तारूप वस्तु भी नहीं है, एक क्षणिक अशुद्ध परिणति है और वह दूर हो सकती है। जिसप्रकार जीवद्रव्य शुद्ध सत्तास्वरूप विद्यमान वस्तु है, वह कभी मिट नहीं सकती, उसीप्रकार राग-द्वेष कोई द्रव्य की भाँति सत्तारूप नहीं है, वे तो क्षणिक परिणाम हैं। जीव अपने शुद्ध द्रव्योन्मुख होकर स्वभावरूप परिणमित हो, वहाँ राग-द्वेष मिट जाते हैं, और ऐसा होना सुगम है, कठिन या असंभव नहीं है। भूतार्थरूप जो स्वभाव है, उसके आश्रय से अभूतार्थ ऐसी अशुद्ध परिणति मिटती है और शुद्ध परिणति होती है।

अरे, अभी तो जो ऐसी विपरीत बुद्धि में अटका है कि—परद्रव्य जीव की परिणति को तथा जीव परद्रव्य की परिणति को करता है, वह जीव स्वभाव का आश्रय कब करेगा? जो स्व-पर की एकत्वबुद्धि को भी नहीं छोड़ता, वह अंतर में स्वभाव एवं विभाव के बीच का सूक्ष्म पृथक्करण किसप्रकार करेगा? भाई, तू राग-द्वेष-अशुद्धतारूप परिणमित हो रहा है, उसके बदले शुद्धतारूप परिणमित हो तो तुझे कौन रोकता है? कोई तुझे नहीं रोकता तो किसलिये पर का दोष निकालता है? इसलिये कहते हैं कि-संसारदशा में जीवद्रव्य-राग-द्वेष मोहादि अशुद्ध चेतनारूप परिणमित होता है, वह वास्तव में वस्तुस्वरूप का विचार करने से जीव का अपना दोष है, कर्मादि पुद्गल का तो उसमें कोई दोष नहीं है। अज्ञान से अशुद्धतारूप परिणमित होता है, उसके बदले शुद्ध परिणतिरूप परिणमित हो और शुद्धस्वरूप का अनुभव करे तो कौन तुझे रोकता है? कोई नहीं रोकता। उसीप्रकार अशुद्धतारूप परिणमित जीव को कोई दूसरा अशुद्धतारूप परिणमित नहीं करता; शुद्धता में किसी का जरा भी सहारा नहीं है, उसीप्रकार अशुद्धता में किसी दूसरे का जरा भी अपराध नहीं है। शुद्धता में या अशुद्धता में जीव स्वयं ही परिणमित होता है। ऐसे वस्तु स्वभाव का जिसने निर्णय किया, उसे तो स्वद्रव्योन्मुखता के कारण शुद्धतारूप परिणमन प्रारंभ हो ही जाता है।

ऐसा जानना चाहिये कि जीव रागादि अशुद्धतारूप परिणमन करता है, वह जीव का ही दोष है, पुद्गलद्रव्य का दोष नहीं है। इसलिये मोहादि अशुद्ध परिणति का नाश करके 'मैं शुद्ध चैतन्य द्रव्य हूँ', ऐसे स्वभाव का अनुभव करो।

देखो, यहाँ स्पष्ट घोषित करते हैं कि जीव अज्ञानभाव से अशुद्धतारूप होता है, उस अशुद्धता में ज्ञानावरणादि कर्म के उदय का अथवा शरीर-मन-वचन का या पाँच इन्द्रियों की भोग सामग्री आदि किसी का कोई भी अपराध नहीं है, अपराध जीव कृत अज्ञान का ही है। अज्ञान छोड़कर स्वयं अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करने से शुद्धपरिणति होती है और अशुद्ध परिणति छूटती है।

अशुद्धता क्यों हुई?-तो कहते हैं कि शुद्धात्मा का अनुभव नहीं किया, इसलिये अशुद्धता हुई।

वह अशुद्धता कैसे दूर होगी?—तो कहते हैं कि शुद्धात्मा का अनुभव करने से वह दूर होती है।

'मैं तो शुद्धज्ञान हूँ', ऐसे अनुभव के द्वारा अशुद्धता को अस्त करता है। अशुद्धता का मूल कारण अज्ञान है; ज्ञान होने पर वह अस्त हो जाता है।

जिसप्रकार परद्रव्य जीव को अंशमात्र दोष नहीं कराता, उसीप्रकार वाणी, इन्द्रियाँ, शरीर या बाह्य सामग्री वे कोई परद्रव्य जीव में अंशमात्र गुण उत्पन्न नहीं करते। वाणी आत्मा में ज्ञान उत्पन्न करे या निंदा के शब्द आत्मा में द्वेष उत्पन्न करें, ऐसा होता ही नहीं।

धर्मी तो जानता है कि अहा, मेरा आनंद मेरे पास मुझमें ही है, अन्य कोई मुझे आनंद देने में समर्थ नहीं है, या कोई दूसरा मेरे आनंद को लूटने में समर्थ नहीं है। कोई प्रतिकूल संयोग आकर मेरे स्वभाव के आनंद को लूट ले, ऐसा नहीं हो सकता; और कोई अनुकूल संयोग आकर मुझे आनंद दे सके, ऐसा भी नहीं हो सकता। देखो, इस सम्यक् अभिप्राय में स्वभावोन्मुखता के जोर से वीतरागता का मंथन होता है। अपने परिणामों की डोर, मेरे ही हाथ में है, मेरे परिणामों की डोर पर के हाथ में नहीं है; मैं अपने परिणामों को जैसा करूँ वैसा होते हैं।

प्रश्न—विकार कर्म का उदय कराता है, परंतु उसे आत्मा का न मानना, यह बात ठीक है?

उत्तर—यह बराबर नहीं है, कर्म जीव को विकार करायें, यह बात सच नहीं है। कर्म ने जीव को विकार कराया, ऐसा जिसने माना उसने तो जीव के और कर्म के परिणामों को एकमेक माना है, इसलिये दो द्रव्यों में एकताबुद्धि हुई, उसे तो भेदज्ञान ही नहीं है। जीव मोह से जहाँ परद्रव्य को अपना मानता है, वहाँ उसे राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणति होने से कौन रोक सकता है?

प्रश्न—शास्त्र में भी कई जगह कर्म के उदय से विकार का होना कहा है न ?

उत्तर—वह तो निमित्त का कथन है। विकार जीव के शुद्धस्वरूप के आश्रय से नहीं होता, इसलिये उसमें दूसरे निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कर्म के उदय से हुआ, ऐसा कहा है। वास्तव में जीव ने अपनी अशुद्ध परिणति से ही विकार किया है। विकार करने में जीव के अज्ञान का ही अधिकार है, उसमें पर का अधिकार नहीं है और शुद्धस्वभाव का भी अधिकार नहीं है।

कहीं भी शुद्धदृष्टि से, जीव शुद्धस्वभाव में विकार का कर्तृत्व नहीं है—ऐसा बताने के लिये उस विकार को कर्मकृत कहते हैं। परंतु उसे कर्मकृत कहकर उस विकार के कर्तृत्व से रहित शुद्ध आत्मस्वभाव बतलाना है। किंतु ऐसा कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि कर्म विकार कराते हैं, इसलिये उसे तू दूर नहीं कर सकता। विकार का कर्तृत्व तेरे शुद्धस्वरूप का नहीं है, इसलिये शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर तो विकार दूर हो जायेगा-ऐसा समझाने का आशय है।

अरे जीव! तेरे विकार में पर का दोष कैसा ? अपनी पर्याय में विकार तू करे और दोष दूसरे के सिर मढ़े—यह तो अन्याय है, इसमें स्व-पर की एकताबुद्धिरूप महान अपराध है। इसलिये उस मिथ्याबुद्धि को छोड़ और विकाररहित अपने शुद्धात्मा को देख—उसका अनुभव कर, यही अशुद्धता दूर करने का उपाय है।

जो पर के कारण अशुद्धता मानता है, उसे अशुद्धता दूर करने का अवसर ही नहीं मिलेगा; क्योंकि अशुद्धता टालने के लिये वह पर की ओर देखता रहेगा, और पर की ओर देखने से अशुद्धता कभी मिट नहीं सकेगी।

यदि तू पर के कारण अपनी पर्याय का होना मानता है तो आचार्य कहते हैं कि तू झूठा है। यदि तुझे सच्चा बनना हो तो पर से भिन्न ऐसे अपने शुद्ध स्वरूप को देख। जो पर से गुण-दोष मानता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव, परद्रव्य का अपना माने बिना नहीं रहेगा, और स्वद्रव्य की शुद्धता का अनुभव नहीं करेगा—ऐसे जीव को अशुद्धता न हो तो दूसरा क्या होगा? शुद्धस्वरूप का अनुभव नहीं है, वहाँ अशुद्धता हुए बिना नहीं रहेगी। उस अशुद्धता को दूर करने का क्या उपाय है ?—तो कहते हैं कि शुद्धस्वरूप का अनुभव करना ही अशुद्धता को दूर करने का उपाय है।●

जीव का स्वभाव

(समयसार कलश टीका-प्रवचन)

[आत्मा का अस्तित्व ज्ञानमय है; ज्ञान के साथ आनंद है—ऐसे ज्ञानस्वभाव की बात सुनने को मिलना भी महाभाग्य है, और प्रेम से अंतर में लक्षगत करके उसे स्वीकार करना, वह अपूर्व कल्याण है।]

जीव का स्वभाव सर्व ज्ञेयों को जाने ऐसा है। ज्ञान अपने को, राग को तथा पर को ज्ञेयरूप से जानता है। अब, रागादि ज्ञेयों को जानने से कहीं ज्ञान में अशुद्धता नहीं हो जाती। राग अशुद्ध है, परंतु राग को जाननेवाला ज्ञान कहीं अशुद्ध नहीं है। जिसप्रकार जड़ को जाननेवाला ज्ञान जड़ नहीं हो गया है, उसीप्रकार रागादि को जाननेवाला ज्ञान रागादिरूप नहीं हो जाता।

ज्ञान में नारकी ज्ञात हो, उससे कहीं ज्ञान में दु:ख नहीं है। ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकपने की शक्ति का विकास हुआ, इसलिये उसमें पर ज्ञात होता है, यह तो ज्ञान की स्वच्छता की विशालता है। पर को जानने के कारण ज्ञान में अशुद्धता माने, उसे ज्ञान की प्रतीति नहीं है। दर्पण में मलिन वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने से कहीं दर्पण मैला नहीं होता; उसीप्रकार इस चैतन्य दर्पण की स्वच्छता में विकार और परज्ञेय ज्ञात होते हैं, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि ज्ञान में मलिनता हो गई! उसे मैं निकाल दूँ!—ऐसा मानकर वह स्व-परप्रकाशक ज्ञान का ही निषेध कर देता है।

राग को ज्ञान जानता है, परंतु उससे राग कहीं ज्ञान का कार्य नहीं है। ज्ञान राग को स्वकार्यरूप से नहीं जानता; इसलिये राग को जानने से ज्ञान में अशुद्धता की सम्भावना नहीं है।-ऐसा ही जीव का स्वभाव है। भाई, जानने में अशुद्धता कहाँ आ गई? ज्ञान तो परज्ञेयों से बाहर रहकर ही जानता है, और वे ज्ञेय तो ज्ञान से बाहर ही रहते हैं; ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे में प्रविष्ट नहीं हो जाते, तथापि अज्ञानी निजज्ञान को भूलकर खेद-खिन्न होता है। स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य, वह तो ज्ञान की निर्मलता है; उसे जाने तो आत्मा को जाना कहा जाये।

स्व-परप्रकाशक ज्ञान राग को जानने से स्वयं रागरूप नहीं हो गया है; स्वयं तो ज्ञानरूप ही रहा है। ऐसे ज्ञान की प्रतीति वह वस्तु-स्वभाव की प्रतीति है।

अहो, ज्ञानस्वभावी महिमावंत पदार्थ—जिसके लक्ष से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि कार्य हुआ, उसके साथ ज्ञान में रागादि अशुद्धता ज्ञात होती है, तथापि उसमें ज्ञान के ही सामर्थ्य की प्रसिद्धि है।

विकारी परिणाम भी द्रव्य के परिणाम हैं और आत्मा उनका कर्ता है, दूसरा कोई कर्ता नहीं है—ऐसा पहले कहा है। यहाँ कहते हैं कि उन विकारी परिणामों को जानने की शक्ति ज्ञान में है; उस ज्ञान के स्व-परप्रकाशकपने में आनंद का वेदन है; उसमें दुःख का ज्ञान भले हो, परंतु उस दुःख का वेदन नहीं है।

अरे जीव! ज्ञान को भूलकर खेद क्यों प्राप्त करता है? ज्ञान में खेद कैसा? प्रतिकूल संयोग का आना, वह कहीं तुझे दुःखी होने का कारण नहीं है, उसे तो जान लेना स्व-पर प्रकाशक ज्ञान का स्वभाव है; उस ज्ञान में कहीं आकुलता या खेद नहीं है। साधकपने की भूमिका में राग भी है और ज्ञान उसे जानता है, वहाँ कहीं राग को जानने से साधक के ज्ञान में मलिनता नहीं हो जाती; परंतु मिथ्याश्रद्धा के कारण ज्ञेयों में ही मग्न हुआ अज्ञानी जीव ज्ञान को भूलकर खेदखिन्न होता है। वस्तुस्वरूप को जाने तो ऐसा खेद न रहे, और स्व-परप्रकाशी ज्ञान की प्रतीति के साथ आनंद प्रगट हो। निर्दोष ज्ञान को तू दोषयुक्त न मान। पर को जानने से कहीं ज्ञान में खेद नहीं है। ज्ञान की प्रतीति को भूलकर ज्ञेय में तन्मयता माने तो उसमें मिथ्यात्व का खेद है। खेद दूर करने के लिये स्व-पर प्रकाशक ज्ञान को अनुभव में ले, तो खेद दूर होकर अपूर्व आनंद प्रगट हो। ज्ञान की प्रतीति के बिना किसी प्रकार समता या आनंद प्रगट नहीं होता।

ज्ञान, वह आत्मा का तत्त्व है, और रागादि वह आस्रवतत्त्व का भाग है। वहाँ आस्रव की मलिनता को जानने से ज्ञान मलिन नहीं हो जाता।

एक ओर ज्ञान का भाग और दूसरी ओर राग का भाग, उसमें से ज्ञान का भाग अच्छा है और जो अच्छा है, वह तेरा है। इसप्रकार राग से भिन्न ज्ञान को ग्रहण करना, वह सुखी होने का मार्ग है।

अरे जीव! जानना तो तेरे ज्ञान का स्वभाव है; तो फिर परज्ञेय ज्ञात होने पर तू अपने ज्ञान से क्यों च्युत होता है? स्व-पर को जाने, वह तो ज्ञान के शुद्धस्वभाव का उदय है। पर को करने

का स्वभाव नहीं है, परंतु पर को जानने का तेरा स्वभाव है। ज्ञान में पर ज्ञात हो, वहाँ तू घबरा क्यों जाता है ? ज्ञान में राग ज्ञात हो, उससे कहीं राग ज्ञान का स्पर्श नहीं कर लेता; राग को जानने से ज्ञान कहीं रागी नहीं हो जाता, जड़ को जानने से जड़ नहीं हो जाता। तेरा ज्ञान तो त्रिकाल शुद्धस्वभावी है। ऐसे ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में ले। ज्ञेय ज्ञात होते हैं, इसलिये वे कहीं तेरे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जाते, तेरा ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता, परंतु ज्ञान तो ज्ञातास्वरूप ही रहता है।—इसप्रकार ज्ञानस्वरूपी शुद्ध आत्मा को तू जान और ज्ञेयों के साथ ज्ञान की एकता के भ्रम को छोड़। मैं ज्ञाता हूँ और रागमय नहीं हूँ, रोगमय नहीं हूँ;—ऐसी निःशंकता पूर्वक तू ज्ञानरूप ही रह... ज्ञानरूप ही आत्मा को अनुभव में ले तो तेरे ज्ञान में कोई आकुलता न रहे।

ज्ञान में राग नहीं है तो राग को कौन करता है ?

ज्ञान, राग को नहीं करता। ज्ञान का अस्तित्व वह कहीं राग की उत्पत्ति का स्थान नहीं है। राग, ज्ञान के कार्यरूप नहीं है परंतु ज्ञेयरूप है। तू अपने ज्ञान में है, और राग को जानने से कहीं राग में नहीं चला जाता, तू तो ज्ञानरूप से ज्ञान में ही स्थित है।

ज्ञानस्वरूपी आत्मा शरीररूप नहीं हुआ है और रागरूप भी नहीं हुआ है। राग को जानते हुए अपने ज्ञानरूप अस्तित्व को भूलकर राग के कारण-राग के आश्रय से ज्ञान होता है, ऐसा मानता है, राग में ही अपना अस्तित्व मानता है, वह अज्ञानी की भ्रमणा है। स्वसन्मुख अस्तित्व की श्रद्धा से भ्रष्ट होकर उसने वह भ्रम उत्पन्न किया है। अज्ञानी स्व-पर की एकता के भ्रम से पर का ज्ञातृत्व छोड़ना चाहता है; परंतु भाई ! पर को जाननेवाला तो तू है, ज्ञानरूप तो तेरा अस्तित्व है, तो क्या तुझे अपने अस्तित्व को छोड़ना है ? अपने जीवन का नाश करना है ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। आत्मा सदा ज्ञानरूप वस्तु है, वह कभी ज्ञान से पृथक् नहीं हो सकता, उसका अस्तित्व ही ज्ञानमय है।

अरे, ऐसे ज्ञानस्वभाव की बात सुनने को मिलना, वह भी महाभाग्य है और अंतर में प्रेमपूर्वक उसका स्वीकार करना, वह भी अपूर्व कल्याण है।

सुखी कौन ?

(परमात्मप्रकाश गाथा ११७-११८)

[आत्मिक सुख की ऊर्मि जागृत करनेवाला सुंदर प्रवचन]

बाह्य विषयों के संग में पड़े हुए एवं तीव्र मोहरूप अग्नि से दग्ध ऐसे समस्त जीव इस संसार में दु:खी हैं; विषय संग से रहित आत्मलीन निर्मोही मुनिवर ही सुखी हैं। मुनियों के पेटे में सम्यग्दृष्टि भी सुखी है—ऐसा समझ लेना चाहिये।

आनंदस्वरूप आत्मा के स्वसंवेदन से जो आनंद धर्मात्मा को आता है, विषय संग में पड़े हुए अज्ञानी को उस आनंद का आभास भी नहीं है।

नित्यविज्ञानघनस्वरूप का आश्रय करके बहिर्मुख विषयों में से सुखबुद्धि हटाकर, धर्मी जीव ने आनंदस्वरूप आत्मा में प्रवेश किया है; वहाँ उसे विषयरहित सहज स्वाभाविक आत्म सुख का (आंशिक) वेदन होता है; वह सुख जगत के किन्हीं विषयों में नहीं है; वह सुख तो सिद्ध भगवन्तों की जाति का है।

इन्द्र के वैभव का उपभोग करनेवाला जीव सुखी है—ऐसा नहीं है; सुखी तो वही है कि जो जीव अंतर्मुख होकर चैतन्य के निजवैभव का वेदन करता है।

सुखिया जगत में संत... दुखिया है दुर्जन...

जो सत्स्वरूप आत्मा में रम रहे हैं, वे संत जगत में सुखी हैं और आत्मा को भूलकर जो विषय कषायों की चिंता में पड़े हैं, ऐसे दुर्जन दु:खी हैं। चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यक्त्वी भी संत हैं; वे संत अनंत सुख के धाम ऐसे निजस्वरूप को जानकर उसे सदा उपादेयरूप से ध्याते हैं।

श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि—

'सुखधाम अनंत सुसंत चहीं, दिनरात रहें तद् ध्यान महीं;'

अनंत सुख का धाम ऐसा जो निजस्वरूप—उसे चाहकर, उसकी प्रीति करके, उसके श्रद्धा-ज्ञान करके संत दिन-रात उसके ध्यान में लीन रहते हैं और उसके ध्यान में उन्हें आनंद की धारा बहती है। अहा, अनुभव के आनंद की जगत के बाह्य विषयों में गंध भी नहीं है। ऐसे आनंद का जिसे अनुभव हो, उसे मोक्षमार्ग हुआ कहा जाता है। मोक्षमार्ग कहो या आनंद का अनुभव कहो। चतुर्थ गुणस्थान में साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है किंतु स्वरूपाचरण का जघन्य अंश-स्वाश्रयरूप निश्चय मोक्षमार्ग का कुछ अंश तो प्रगट हुआ है।

- 'आनंद' में मोक्षमार्ग का समावेश है,
- 'दु:ख' में बंधमार्ग का समावेश है।
- मोक्षमार्ग आनंद के वेदनरूप है,
- बंधमार्ग दु:खरूप है।

पूर्ण आनंदस्वरूप मोक्ष; उसके कारणरूप जो मोक्षमार्ग है, वह भी आनंदरूप है। संसार दु:खरूप है, उसके कारणरूप भाव भी दु:खरूप हैं। मोक्षमार्गी मुनिवर महा आनंदरूप हैं, स्वद्रव्य के आलंबन के बल के अनुसार आनंद का अनुभव करते-करते वे मोक्ष में चले जाते हैं... आनंद में रमण करते-करते मोक्ष की साधना करते हैं। मुनिदशा में तो आत्मा तीन कषाय रहित परम सुखी है। उस मुनिपने में दु:ख नहीं है। मुनिपने में जिसे दु:ख लगता हो, उसने मोक्षमार्ग को जाना ही नहीं है। मुनिपना अर्थात् मुक्त होने का मार्ग, उसमें दु:ख होगा या सुख ? जो निरंतर अतीन्द्रिय सुख में झूले, उसका नाम मुनि है। मुनि तो अनंतसुख के धाम ऐसे निजात्मा में लीन होकर आनंदामृत का पान करते हैं।

दु:ख तो मोह का है; जिसे मोह नहीं, उसे दु:ख कैसा ? निर्मोही जीव सुखी हैं। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि अरे ! मुनियों को कितना दु:ख है ! क्योंकि मिथ्यादृष्टि को संयोग में सुख बुद्धि है ही, इसलिये संयोगरहित मुनि उसे दु:खी दिखायी देते हैं... वह न तो मुनि को जानता है और न मोक्षमार्ग को। अरे भाई, विषयों के ओर की मृगतृष्णावाले जीव तो मोहाग्नि में जल रहे हैं, वे तो दु:खी हैं और मुनिवर बाह्य सामग्री के बिना भी निजस्वरूप के निराकुल आनंद का वेदन कररहे हैं, उन्होंने सुख के समुद्र में डुबकी लगायी है—उन जैसा सुखी तो इस जगत में दूसरा कोई नहीं है।

अपने स्वरूप में जो आनंद भरा है, उसे जब तक प्राप्त न कर ले, तब तक जीव को सुखी कैसे कहा जा सकता है ? सुख जिसने देखा नहीं है, उसे सुख या आनंद कहाँ से होगा ? उसे मोक्षमार्ग कहाँ से प्रगट होगा ? अनुकूल संयोगों द्वारा मैं सुखी हूँ—ऐसा जो मानता है, वह जीव अपने सुख का स्वभाव का अनादर करता है; मैं संयोग से सुखी हूँ, इसका अर्थ यह है कि मुझमें सुख नहीं है—ऐसी बुद्धिवाले जीव को कभी आत्मा का सुख प्राप्त नहीं होता, वह सुख के लिये बाह्य विषयों में मिथ्या प्रयत्न करके दु:खी होता रहता है। सुखी तो तभी होगा, जब बाह्य विषयों से विमुख होकर आत्मस्वरूप में उतरे।

भाई, तुझे सुखी होना हो तो अपने ज्ञान में परमात्मा की स्थापना कर, बाह्य विषयों को स्थान न दे। आनंद तो तेरा स्वरूप है, उसमें विषयों की आवश्यकता कहाँ है ? इसलिये तो कहते हैं कि हे जीव ! सुख अंतर में है, उसे बाह्य में न ढूँढ़ ! जगत को संतुष्ट करने में और जगत से संतुष्ट होने में तो जीव ने अनंतकाल गँवा दिया, परंतु उसमें किंचित् सुख नहीं है.. अंतर्मुख रुचि द्वारा अपने आत्मा को संतुष्ट कर और आत्मा के स्वभाव से तू संतुष्ट हो, तो तुझे सच्चे सुख का अनुभव होगा। संयोग द्वारा संतुष्ट न हो, राग द्वारा संतुष्ट न हो, आनंद का भंडार तुझमें भरा है, उसमें तू संतुष्ट हो, प्रसन्न हो, आनंदित हो।

जिसने चैतन्य का सुख देखा है, वह धर्मात्मा जगत के किसी विषय में लुभाता नहीं है। चैतन्य में भरा हुआ अनंत सुख का भंडार धर्मी को ऐसा लुभाता है कि वह उसी के स्वाद में तल्लीन हो जाता है। अनंत सुख के धाम में जो लुभाया, वह किन्हीं सांसारिक विषयों के लालच में नहीं फँसता। सांसारिक पदार्थों की लालसा उसे छूट गई है और चैतन्यानंद के अनुभव की उत्कृष्ट लालसा (प्रीति) जागृत हुई; उसमें तल्लीन—एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करता है। वही सुखी है।

तीर्थंकर जिनवरों को मुनिदशा में जैसा निर्विकल्प आनंद आया, वैसे ही आनंद का अनुभव धर्मी जीव निर्विकल्प समाधि में करते हैं। निज शुद्धात्मा के दर्शन से जो परम अद्‌भुत सुख जिनवरों को मुनिदशा में होता है, उसी सुख का अनुभव वीतराग भावना में परिणत मुनि निज शुद्धात्मा को जानते हुए करते हैं और सम्यग्दृष्टि भी स्वानुभव में ऐसे ही सुख का अनुभव करते हैं।

देखो, तीर्थंकर का उत्तम पुण्य और उत्तम सामग्री; परंतु उन्हें कहीं उसका सुख नहीं है, सुख तो उन्हें अपने स्वभाव में एकाग्रता का ही है। संयोग का जितना लक्ष है, उतनी आकुलता तो तीर्थंकर होनेवाले जीव को भी है, और जब वे अपने स्वभाव में लीन होते हैं, तब वीतरागभावना में उन्हें परमसुख का अनुभव होता है। तीर्थंकर के आनंद का उदाहरण देकर कहते हैं कि जो जीव निज स्वरूप में लीन होता है, उसे तीर्थंकर जैसे ही सुख का अनुभव होता है। स्वरूप में लीन होने पर तीर्थंकर को अधिक आनंद और दूसरे को अल्प आनंद हो—ऐसा नहीं है। एक तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण करके निज स्वरूप में लीन हो, और एक लकड़हारा यथाजात निर्ग्रंथ मुनि की दीक्षा प्राप्त करके निजस्वरूप में लीन हो, तो—उन दोनों को समान

आनंद है; जैसा आनंद तीर्थंकर को है, वैसा ही लकड़हारे को है; क्योंकि दोनों का आनंद बाह्य सामग्री से पार है और स्वभाव में से प्रगट हुआ है। जो भी जीव निजस्वरूप में लीन हो, उस प्रत्येक जीव को ऐसा आनंद प्रगट होता है; उसमें बाहरी सुविधा—असुविधा के भेद से कोई भेद नहीं हैं। इसलिये हे जीव! तू सामग्री का मोह छोड़कर सुख के धाम ऐसे अपने आत्मस्वरूप की रुचि कर... अतीन्द्रिय आनंद से परिपूर्ण भगवान को अपने नयनों में बसा!

एक जीव चक्रवर्ती होकर फिर केवलज्ञान प्राप्त करता है और दूसरा जीव सामान्यरूप से केवलज्ञान प्राप्त करता है; परंतु दोनों का सुख एक समान है। एक जीव सामान्य केवलीरूप से मोक्ष प्राप्त करे और दूसरा जीव तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करे, उससे कहीं दोनों के आनंद में किंचित् मात्र अंतर नहीं है, आनंद दोनों का एक-सा है। अहो, हम अपने स्वरूप में जब लीन होते हैं, तब दीक्षाकाल में तीर्थंकरों ने जैसे निर्विकल्प आनंद का अपने ध्यान में अनुभव किया था, वैसे ही आनंद का अनुभव हम करते हैं। चार ज्ञानधारी जीव जैसे आनंद का अनुभव करता है, वैसे ही आनंद का अनुभव मति-श्रुतज्ञानी मुनि स्वानुभव में करता है। इसप्रकार आत्मा के आनंद का अनुभव करते-करते धर्मी जीव मोक्ष को साधता है। अज्ञानी को ऐसे आनंद के नमूने की भी खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर ऐसे आनंद का नमूना अनुभव में आ जाता है; सिद्ध के और उसके आनंद की एक ही जाति है। जिसे ऐसा अनुभव है, वही जीव सुखी है।

—: एक मंत्र :—

अशांति से भरी हुई इस दुनियां में एक चैतन्यतत्त्व ही शांति का धाम है। अनित्यता एवं अशांति की घटनाएँ तो दुनिया में सदा होती ही रहती हैं। वर्तमान में प्रतिदिन ऐसी बड़ी-बड़ी घटनाएँ हो रही हैं जो समूचे राष्ट्र पर प्रभाव डालती हैं और संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता का जोर शोर से प्रचार करती हैं... और जिनका स्वरूप विचारने से मुमुक्षु का चित्त एकदम संसार से हटकर स्वरूप की शरण खोजने में तत्पर हो जाता है। संसार का ऐसा अस्थिर स्वरूप जानकर संतों ने शीघ्रता से वैराग्य का मार्ग ग्रहण किया और निजस्वरूप में स्थिर हो गये। दुनिया को 'जगदस्थिरम्' का मंत्र देकर समझाया कि आकाश या पाताल में भी जीव मृत्यु से बच नहीं सकता.... मृत्यु से बचानेवाली एक ही वस्तु है... और वह है रत्नत्रयधर्म।

ज्ञान गोष्ठी

वीर संवत २४७१ के वैशाख मास में गर्मी की छुट्टियों के दिनों में श्री जैन स्वाध्याय मंदिर की ओर से सोनगढ़ में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग एक मास तक रखने में आया था। उस वर्ग में आये हुये विद्यार्थियों ने आपस में किये हुए एक दिन के प्रश्नोत्तर यहाँ पर दिये जाते हैं। ऐसा शिक्षण वर्ग प्रत्येक साल रखा जाता है।

[गतांक से आगे]

(४९) **प्रश्न**—उपरोक्त पाँच शरीरों में से कम से कम कितने शरीर हो सकते हैं ? और किस जीव के ?

उत्तर—एक भव से दूसरे भव में गमन करनेवाले जीव के बहुत ही थोड़े समय के लिये सिर्फ तैजस और कार्माण ये दो ही शरीर होते हैं।

(५०) **प्रश्न**—'काला रंग' अनुजीवी गुण है या प्रतिजीवी गुण ?

उत्तर—काला रंग गुण नहीं है किंतु गुण की पर्याय है। पुद्गलद्रव्य में रंग नाम के गुण की काली अवस्था है, उसे काला रंग कहा जाता है।

(५१) **प्रश्न**—द्रव्यत्वगुण में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किसप्रकार हैं ?

उत्तर—द्रव्य में नवीन अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था का नाश होता है और वस्तुत्व कायम बना रहता है—इसप्रकार द्रव्यत्वगुण में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं। जैसे जीवद्रव्य में सिद्धदशा की उत्पत्ति संसार दशा का नाश और द्रव्यत्वगुण की स्थिरता होती है। यह द्रव्यत्वगुण का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

(५२) **प्रश्न**—क्या यह बात ठीक है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता ? और क्यों ?

उत्तर—हाँ, यह बात ठीक है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में अगुरुलघुत्व नामक शक्ति विद्यमान है, इसलिये कोई एक पदार्थ अन्य पदार्थरूप में परिणमित नहीं होता। और फिर वस्तु में अस्ति-नास्ति धर्म है, प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप से है और पर के स्वरूप से नहीं है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न स्वतंत्र है, इसलिये कोई एक-दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकती।

और प्रत्येक वस्तु में द्रव्यत्व नामक शक्ति है, इस शक्ति से प्रत्येक वस्तु का कार्य स्वयं अपने आप हुआ करता है, इसलिये भी एक वस्तु दूसरे का कुछ नहीं कर सकती।

(५३) **प्रश्न**—अवधिज्ञानी जीव के पहले केवलदर्शन होता है या नहीं ? और क्यों ?

उत्तर—उस जीव के अवधिज्ञान से पहले अवधिदर्शन होता है किंतु केवलदर्शन नहीं होता, क्योंकि अवधिज्ञानी जीव के केवलदर्शन नहीं हो सकता; केवलदर्शन तो केवलज्ञान के साथ ही होता है।

(५४) **प्रश्न**—क्या यह बात ठीक है कि समस्त जीवों के दर्शन पूर्वक ही ज्ञान (अर्थात् पहले दर्शन और फिर ज्ञान) होता है ?

उत्तर—नहीं, समस्त जीवों के लिये ऐसा नहीं है। अपूर्णज्ञानवाले जीव के दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है परंतु जिसके पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट हो गया हो, उसके तो दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ ही होते हैं।

(५५) **प्रश्न**—'मुनि महाराज ध्यानस्थ विराजमान हैं' इस प्रसंग को लेकर छहों द्रव्य की क्रिया का कुछ वर्णन कीजिये ?

उत्तर—ध्यानस्थ मुनिराज का आत्मा उस समय परम आनंद में लीन है अर्थात् उनके शुद्धज्ञान की क्रिया हो रही है (२) जड़ शरीर के परमाणुओं की क्रिया उस समय स्थिर रहने योग्य है (३) अधर्मास्तिकाय द्रव्य जीव और परमाणुओं के स्थिर रहने में निमित्तरूप है (४) कालद्रव्य परिणमन में निमित्त है; (५) आकाशद्रव्य स्थान देने में निमित्त और (६) धर्मास्तिकाय द्रव्य की वहाँ उपस्थिति है किंतु उसे स्थिति में निमित्त नहीं कहा जा सकता।

(५६) **प्रश्न**—ध्यान के समय आत्मा में किस-किस तरह की पर्याय होती है ?

उत्तर—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय दोनों होती हैं।

(५७) **प्रश्न**—क्या अरूपी पदार्थ के आकार होता है ?

उत्तर—हाँ, प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक पदार्थ का आकार होता ही है और उसे व्यंजनपर्याय कहा जाता है।

(५८) **प्रश्न**—धर्म.. अधर्म.. आकाश और काल इन चार द्रव्यों के स्वभाव व्यंजनपर्याय होती है या विभाव व्यंजनपर्याय ?

उत्तर—इन चार द्रव्यों के सदा स्वभाव व्यंजनपर्याय ही होती है, इनकी पर्याय में कभी विकार नहीं होता, संसारी जीव और परमाणुओं के ही विभाव व्यंजनपर्याय होती है।

(५९) **प्रश्न**—अगुरुलघुत्वगुण प्रतिजीवी है या अनुजीवी ?

उत्तर—अगुरुलघुत्वगुण दो प्रकार का है; उसमें जो सामान्य अगुरुलघुत्वगुण है, वह अनुजीवी है और जो विशेष अगुरुलघुगुण है, वह प्रतिजीवी है।

(६०) **प्रश्न**—दोनों अगुरुलघुगुण में अभाव सूचक 'अ' जाता है, तथापि उन दोनों में भेद क्यों?

उत्तर—सामान्य अगुरुलघुगुण तो सामान्य वस्तुओं में त्रिकाल रहता है; वह गुण किसी दूसरे के अभाव की अपेक्षा नहीं रखता, इसलिये वह अनुजीवी है और विशेष अगुरुलघुगुण तो गोत्रकर्म के अभाव होने पर सिद्धदशा में प्रगट होता है—कर्म के अभाव की अपेक्षा रखनेवाला होने से वह प्रतिजीवी गुण है।

अभाव सूचक 'अ' आता है, इसलिये उस गुण को प्रतिजीवी गुण कहना चाहिये, ऐसी उसकी व्याख्या नहीं है, किंतु जो किसी दूसरे पदार्थ की अभाव अपेक्षा रखता है, वह गुण प्रतिजीवी है।

(६१) **प्रश्न**—मन ज्ञान करने में रुकावट पैदा करता है अथवा सहायता पहुँचाता है।

उत्तर—मन तो जड़ है, यह ज्ञान से पृथक् है। इसलिये वह ज्ञान करने में न तो सहायता करता है और न रुकावट ही पैदा करता है। जब ज्ञान परपदार्थ को जानता है, तब मन निमित्तरूप उपस्थित मात्र होता है और जब ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को ही जानता है, तब तो मन निमित्तरूप भी नहीं होता।

(६२) **प्रश्न**—जब आत्मा देह छोड़कर चला गया, तब यहाँ से छह द्रव्यों में से कितने द्रव्य चले गये?

उत्तर—एक तो जीव चला गया और उसके साथ कार्माण तथा तैजस शरीर के रजकण चले गये; अर्थात् जीव और पुद्गलद्रव्य चले गये। जीव और पुद्गलद्रव्य के सिवाय चारों द्रव्य तो सदा स्थिर हैं। उनमें कभी क्षेत्रांतर नहीं होता।

(६३) **प्रश्न**—क्या यह व्याख्या ठीक है कि शरीर को छोड़कर जीव के प्रदेशों को बाहर फैलने को समुद्घात कहते हैं?

उत्तर—नहीं, यह व्याख्या ठीक नहीं है। यदि शरीर को छोड़कर आत्म प्रदेश बाहर निकल जाये तो वह मरण कहलायेगा। समुद्घात में तो मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेश बाहर फैलते हैं।

(६४) **प्रश्न**—राग-द्वेष आत्मा का है या जड़ का ?

उत्तर—राग-द्वेष भाव आत्मा की पर्याय में होता है, इस अपेक्षा से तो वह आत्मा का है; परंतु राग-द्वेष भाव आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिये आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से उसे जड़ का भी कहा जाता है।

(६५) **प्रश्न**—इंद्रियों के अतिरिक्त जीव हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—हाँ, सिद्धदशा में अनंत जीव हैं, उनके इंद्रिय अथवा शरीर नहीं है तथा जब जीव एक गति में से दूसरी गति में गमन (विग्रह गति) करता है, तब भी उसके इंद्रिय या स्थूल शरीर नहीं होता; और वास्तव में तो सभी जीव इंद्रिय और शरीररहित ही हैं, इंद्रिय और शरीर तो जड़ हैं; ज्ञानस्वरूप आत्मा नहीं है, वह तो भिन्न ही है। व्यवहार से जीव को पहचानने के लिये एकेन्द्रिय इत्यादि नाम दिये गये हैं।

(६६) **प्रश्न**—जड़ और पुद्गल में क्या अंतर है ?

उत्तर—जड़ का लक्षण अचेतनरूप है, इसलिये 'जड़' कहने पर उसमें जीव के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों का समावेश हो जाता है—और पुद्गल का लक्षण रूपिवत्व है, इसलिये पुद्गल कहने पर सिर्फ पुद्गलद्रव्य लक्ष्य में आता है; जड़ तो रूपी भी होता है और अरूपी भी होता है किंतु पुद्गल तो रूपी ही होता है।

(६७) **प्रश्न**—सच्चे देव का संक्षिप्त स्वरूप क्या है ?

उत्तर—सर्वज्ञता; जहाँ सर्वज्ञता होती है, वहाँ वीतरागता अवश्य होती है।

(६८) **प्रश्न**—अरहंतदेव और स्वर्ग के देवों में क्या अंतर है ?

उत्तर—अरहंतदेव पूज्य हैं, वे पूर्ण ज्ञानी हैं, विकाररहित हैं, जीवनमुक्त हैं, भवरहित हैं। किंतु स्वर्ग के देव तो अपूर्ण ज्ञानवाले हैं, विकारसहित हैं, संसारी हैं, भवसहित हैं। अरहंत भगवान के देवत्व, गुण के कारण से है, इसलिये वे पूज्य हैं, और स्वर्ग का देवत्व तो पुण्य के विकार का फल है, इसलिये वह देवपद पूज्य नहीं है।

(६९) **प्रश्न**—कुगुरु-कुदेव की भक्ति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—कुगुरु-कुदेव की भक्ति करने से जीव को कोई भी लाभ नहीं होता किंतु महा अज्ञान के कारण मिथ्यात्व को पुष्ट करके अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

(७०) **प्रश्न**—अगृहीत मिथ्यात्व का फल क्या है और गृहीत मिथ्यात्व का फल क्या है ?

उत्तर—दोनों का फल संसार ही है; अगृहीत मिथ्यात्व अनादि से चला आया है,

गृहीत मिथ्यात्व नवीन ग्रहण किया है और वह गृहीत मिथ्यात्व अगृहीत मिथ्यात्व को पुष्ट करता है।

(७१) **प्रश्न**—मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के बीच क्या अंतर है ?

उत्तर—मिथ्याज्ञान संसार का कारण है, सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण है। अनादि से जीव के मिथ्याज्ञान है, जो जीव यथार्थ प्रतीति करता है, उसे सम्यग्ज्ञान होकर अल्प काल में मोक्ष हो जाता है, मिथ्याज्ञानी जीव सदा यों मानता है कि 'पुण्य से धर्म होता है और शरीरादि का मैं कर सकता हूँ' किंतु सम्यग्ज्ञानी ऐसा कदापि नहीं मानता कि 'पुण्य से धर्म होता है अथवा मैं शरीरादि की क्रिया कर सकता हूँ' यही मिथ्यात्व और सम्यग्ज्ञान के बीच में आकाश पाताल जितना महान अंतर है।

(७२) **प्रश्न**—जिसके सुचारित्र अथवा कुचारित्र हो, उसके गृहीत मिथ्यात्व होता है या नहीं ?

उत्तर—जिसके सुचारित्र होता है, उसके तो मिथ्यात्व होता ही नहीं है और जिसके कुचारित्र होता है, उसमें किसी के गृहीत मिथ्यात्व होता है और किसी के नहीं भी होता।

(७३) **प्रश्न**—गृहीत मिथ्यात्व के छूटने से सम्यग्दर्शन हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—नहीं, सिर्फ गृहीत मिथ्यात्व के छूटने से ही सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, पहले गृहीत मिथ्यात्व को छोड़कर यदि आत्मा की यथार्थ प्रतीति करे तो अवश्य सम्यग्दर्शन होता है। गृहीत मिथ्यात्व को छोड़कर भी यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की ओर ही लग जाये किंतु स्वसन्मुख न हो-अपने आत्मा की यथार्थ प्रतीति न करे तो उसे न तो यथार्थ सम्यग्दर्शन ही होता है और न अगृहीत मिथ्यात्व दूर हो सकता है। जो गृहीत और अगृहीत दोनों मिथ्यात्वों को दूर करता है, उसी के सम्यग्दर्शन होता है।

(७४) **प्रश्न**—पहले गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है या अगृहीत ?

उत्तर—पहले गृहीत मिथ्यात्व दूर किये बिना कभी भी अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। किसी के गृहीत और अगृहीत दोनों साथ भी दूर हो जाते हैं परंतु अगृहीत दूर हो जाये और गृहीत दूर न हो, ऐसा तो कदापि नहीं हो सकता। जिसके गृहीत मिथ्यात्व होता है, उसके अगृहीत मिथ्यात्व भी अवश्य होता है।

(७५) **प्रश्न**—एक जीव कोमल वस्तु के द्वारा जीव को बचाने का प्रयत्न करता है और मानता है कि मुझे इस क्रिया से ही धर्म होता है, उसी समय दूसरा जीव लड़ाई लड़ता है और

उसे आत्मा की पहिचान है कि पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है तो इन दो जीवों में से उस समय किसके अधिक पाप लगता होगा ?

उत्तर—जो जीव कोमल वस्तु द्वारा जीव बचाने की क्रिया से वीतरागभावरूप धर्म मानता है, उस जीव के अधिक पाप है क्योंकि कोमल वस्तु की क्रिया तो जड़ की क्रिया है और जड़ की क्रिया का अपने को कर्ता मानता है; इसलिये उसे उस समय मिथ्यात्व का महापाप का बंध होता है। मैं पर की क्रिया का कर्ता नहीं हूँ और पुण्य-पाप से मुझे मोक्षमार्गरूपी धर्म नहीं है, इसप्रकार समझनेवाले ज्ञानी जीव के लड़ाई के समय भी मिथ्यात्व का महा पाप बंध कदापि नहीं होता, सच्ची श्रद्धा होने के कारण लड़ाई के समय भी उसे आत्मभान (प्रतीति) रहती है और अज्ञानी के यथार्थ श्रद्धा नहीं होने से जीव बचाने के समय भी वह संसार को ही बढ़ा रहा है। यथार्थ प्रतीति के बिना आत्मा के अन्य किसी भी तरह लाभ नहीं होता और आत्मा की अनसमझ के बराबर हानि आत्मा के अन्य किसी प्रकार नहीं होती। लौकिक अहिंसा-दया के शुभभाव ज्ञानी को भी होता है, उसे पुण्य मानता है।

(७६) **प्रश्न**—क्या इस वाक्य में कुछ भूल है कि 'यह शरीर जीव को दु:खी करता है' ?

उत्तर—यह वाक्य मिथ्या है। वास्तव में शरीर जीव को दु:ख करता नहीं है किंतु शरीर के प्रति इस जीव का जो मोहभाव है, वही जीव को दु:खी करता है। जीव को सुख-दु:ख अपने ही भाव से होता है, किंतु शरीर से सुख-दु:ख नहीं होता।

(७७) **प्रश्न**—राग-द्वेष अधिक हानि करता है या राग-द्वेष को अपना मानना हानि करता है ?

उत्तर—राग-द्वेष को अपना मानना ही सब से अधिक हानि का कारण है। राग-द्वेष तो चारित्र का दोष है और राग-द्वेष को अपना मानना श्रद्धा का दोष है और श्रद्धा का दोष समस्त दोष का मूल है।

(७८) **प्रश्न**—यदि कोई जैन निर्ग्रंथ मुनि यों माने कि—'मैं अपने उपदेश से दूसरे को धर्म प्राप्त करा सकता हूँ' तो वह मुनि सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि ? और आपने यह कैसे निश्चय किया ?

उत्तर—वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि मैं पर जीवों को समझा सकता हूँ, पर को बंधन या मुक्ति करा सकता हूँ, यह उसकी मिथ्या मान्यता है। एक जीव दूसरे जीव का कुछ कर नहीं सकता, तथापि वह पर का कर्तव्य मानता ही है, इसलिये यह निश्चय होता है कि वह मिथ्यादृष्टि ही है।●

श्रावक धर्म की अच्छी अच्छी बातें

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

(२११) यद्यपि वीतराग अरहंतदेव अपने भक्तों को कुछ देते नहीं और लेते भी नहीं; पूजा करनेवाले के प्रति उन्हें न राग है, और निंदा करनेवाले के प्रति न द्वेष है, सभी के प्रति उन्हें तो वीतरागभाव ही वर्तता है; परंतु धर्मात्मा भक्तों को जिनमंदिर की शोभा बढ़ाने इत्यादि का उल्लास भाव आये बिना नहीं रहता; शुद्ध जल से भगवान को अभिषेक करते हुए उन्हें ऐसे भाव उल्लसित होते हैं कि मानों साक्षात् ही अरहंतदेव का स्पर्श कर रहे हों। जैसे पुत्र लग्न वगैरह प्रसंग में घर की व मंडप की शोभा कराते हैं, उससे अधिक उल्लास धर्मी जीव धर्म की शोभा व उत्सव कराते हैं। इससे घर में छोटे-छोटे बच्चों को भी धर्म के अच्छे संस्कार मिलते हैं।

(२१२) धर्म के लिये जो अनुकूल न हो, अथवा धर्म में जहाँ बाधा होती हो, ऐसे देश को, ऐसे संयोगों को धर्मी जीव छोड़ देते हैं। जहाँ जिनमंदिर आदि हों, वहाँ धर्मात्मा रहते हैं और नये नये मंगल उत्सव हुआ करते हैं। कोई विशिष्ट जिनमंदिर हो या जिनप्रतिमा हो, वहाँ यात्रा करने के लिये अनेक श्रावक जाते हैं, एवं सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थों की भी यात्रा श्रावक करते हैं। इसप्रकार मोक्षगामी संतों को याद करते हैं; कभी कोई बड़े धर्मात्मा, संत, महात्मा मुनि वगैरह अपनी नगरी में पधारें, तब धर्म का बड़ा उत्सव करें; कोई नया महान शास्त्र आवे, तब उसका भी बहुमान का उत्सव करें। जिनवाणी भी भगवान की तरह ही पूजनीक है। ऐसे शुभराग के साथ धर्मात्मा, श्रावक यह भी जानते हैं कि यह राग पुण्यास्रव का कारण है, और जितनी वीतरागी शुद्धता है, उतना ही मोक्षमार्ग है।

(२१३) समयसार में जैसा एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा दिखाया है, वैसे शुद्ध आत्मा की पहचानरूप सम्यग्दर्शन हो, तभी श्रावकपना शोभित होता है; बिना सम्यग्दर्शन श्रावकपना शोभित नहीं होता। निर्विकल्प अनुभूति सहित सम्यग्दर्शन हो और इसके उपरांत आनंद की अनुभूति व स्वरूपस्थिरता बढ़ जाने पर अप्रत्याख्यान-कषायों का भी अभाव हो, ऐसी अरागी

दशा का नाम श्रावकपना है; और इस भूमिका में जो राग बाकी है, इसने जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन, गुरु-मुनिराज की सेवा, शास्त्रस्वाध्याय, दान, अणुव्रत आदि होते हैं, अतः वह भी श्रावक का व्यवहार धर्म है।

(२१४) अभी यहाँ तीर्थंकर भगवान साक्षात् नहीं हैं परंतु उनकी वाणी तो विद्यमान है; इस जिनवाणी से भी बहुत उपकार होता है, इसलिये इस वाणी की (जिनवाणीरूप शास्त्र की) भी प्रतिष्ठा की जाती है। भगवान की मूर्ति के ऊपर नजर करने से, मानों साक्षात् ही भगवान मेरे सामने विराज रहे हैं—ऐसे अपने ज्ञान में भगवान को प्रत्यक्ष करके साधक को भक्तिभाव उल्लसता है।

(२१५) वीतरागस्वभाव का जिसको ज्ञान हुआ है-अनुभूति हुई है, और मुनि होने की भावना वर्त रही है-ऐसे धर्मी जीव का यह वर्णन है। इसके पहले जिज्ञासु भूमिका में भी यह बात यथायोग्य समझ लेना चाहिये। धर्म के उत्सव में जो भक्ति से भाग नहीं लोता, जिसके घर में दान नहीं होता, तो कहते हैं कि भाई! तेरा गृहस्थाश्रम शोभित नहीं होता। जिस गृहस्थाश्रम में धर्म के उत्सव के लिये प्रतिदिन दान होता है, जहाँ धर्मात्माओं का आदर होता है, वह गृहस्थाश्रम शोभते हैं और वह श्रावक प्रशंसनीय है। अहा! शुद्धात्मा को दृष्टि में लेने से जिसकी दृष्टि में से संपूर्ण राग छूट गया है, उसके परिणाम में राग की बहुत मंदता होती है। और वह मंदराग भी छूटकर सर्वथा वीतरागता हो तब ही केवलज्ञान व मोक्ष होता है। ऐसे मोक्ष का जो साधक हुआ, उसे राग का आदर कैसे हो?

(२१६) श्रावक को स्वभाव के आनंद का अनुभव हुआ है, स्वभाव के आनंदसागर में एकाग्र होकर बार-बार उसका रसास्वादन करता है, उपयोग को अंतर में जोड़कर शांतरस में बार-बार मग्न होता है, परंतु उसमें उपयोग विशेष नहीं ठहरता, अतः अशुभ प्रसंगों को छोड़कर शुभ प्रसंग में वर्तता है, इसका यह वर्णन है।

(२१७) ऐसी पंचम भूमिकावाला श्रावक आयु की पूर्णता होने पर स्वर्ग में ही जाये, ऐसा नियम है। श्रावक को सीधी मोक्षप्राप्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व संग परित्यागी मुनिदशा के बिना किसी को भी सीधी मोक्षप्राप्ति नहीं होती; और पंचम गुणस्थानी श्रावक (मनुष्य हो या तिर्यंच) स्वर्ग के सिवाय अन्य किसी गति में नहीं जाता। वह उत्तम स्वर्ग में ही जाता है, परंतु वहाँ के वैभव में मूर्छित नहीं होता, वहाँ भी आराधक भाव चालू ही रखता है, और वहाँ से फिर

मनुष्य होकर वैराग्य पाकर मुनि होता है और आत्मसाधना पूर्ण कर केवलज्ञान प्रगटाकर सिद्धालय में पधारते हैं। ऐसा श्रावक धर्म का फल है।

(२१८) श्री मुनिराज तो मोक्ष के साक्षात् साधक हैं और श्रावक परंपरा मोक्ष की साधक है। श्रावक को भी सिद्ध-भगवान जैसा आत्मिक आनंद का अंश होता है। ऐसा नहीं कि श्रावक को अकेला व्यवहार साधन ही हो, उसको भी आंशिक निश्चय साधन वर्तता है; और उस निश्चय के बल से ही (अर्थात् शुद्धि के बल से ही) आगे बढ़कर राग को तोड़कर वह केवलज्ञान व मोक्ष पाता है।

(२१९) श्रावक दूसरे भव में नियम से देव ही होता है, श्रावक मरके कभी विदेहक्षेत्र में (या स्वर्ग के सिवा किसी भी गति में) उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य में से मरकर के जो विदेहक्षेत्र में उत्पन्न होता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही होता है। पूर्वबद्ध मनुष्य आयु के कारण जो सम्यग्दृष्टि-मनुष्य फिर भी सीधा मनुष्य में उत्पन्न होता है तो वह असंख्य वर्ष की आयुवाली भोगभूमि में ही उत्पन्न होता है, विदेहादि कर्मभूमि में नहीं। और, पंचम गुणस्थानी श्रावक तो दूसरे भव में मनुष्य होते ही नहीं, देव ही होते हैं।

सम्यग्दृष्टि-मनुष्य कभी मनुष्य का-तिर्यंच का या नरक की आयु नहीं बाँधता, मनुष्यों में ये तीनों आयु मिथ्यादृष्टि की भूमिका में ही बँधते हैं। यह बात अलग है कि आयु बाँधने के बाद भी कोई मनुष्य सम्यग्दर्शन प्रगट करें किंतु इन तीनों में से कोई भी आयु बँधने के समय में तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही होगा। सम्यग्दृष्टि देव या नारकी हो, वह मनुष्य की आयु बाँधे परंतु सम्यग्दृष्टि-मनुष्य तो (यदि उसे भव हो और आयु बाँधे तो) देव ही का आयु बाँधते हैं, अन्य नहीं।

(२२०) गृहस्थपन में अधिक से अधिक पंचम गुणस्थान तक की भूमिका होती है, इससे ऊँची भूमिका नहीं होती। गृहस्थपन में वह एकभवतारी हो सकता है परंतु मोक्ष नहीं पा सकता। बाह्य-अभ्यंतर दिगम्बर मुनिदशा के बिना कोई जीव मोक्ष नहीं पाता। श्रावक धर्मात्मा आराधकभावसहित उत्तम पुण्य से यहाँ से वैमानिक देवलोक में जाते हैं किंतु वहाँ की दिव्य ऋद्धि में वे मूर्छित नहीं होते, वहाँ भी आराधकभाव चालू रखते हैं। आत्मा का वैभव देखा है; अतः बाह्य वैभव में ममत्व नहीं है।

स्वर्ग में जाकर सबसे प्रथम ऐसा होता है कि अहो! मैंने पूर्वभव में धर्म का जो सेवन किया, उसी का यह प्रताप है। वहाँ मेरी आराधना अपूर्ण रह गई और राग बाकी रह गया, इससे

यहाँ अवतार हुआ; पूर्व में जिनेन्द्र भगवान का भक्ति पूजन किया, उसका यह फल है। अत: चलो, सबसे पहले जिनेन्द्र भगवान का पूजन करें—ऐसा कह के, स्वर्ग में जो शाश्वत जिनप्रतिमा है, उसकी पूजन करते हैं। इसप्रकार स्वर्ग में भी आराधक भाव चालू रख करके वहाँ की असंख्य वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उत्तम मनुष्य कुल में अवतरित होते हैं, और योग्य समय पर वैराग्य पाकर मुनि होकर आत्म-साधना पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट कर सिद्धालय में सिधाते हैं।

जयजिनेन्द्र!

उपकारी को प्रथम नमस्कार

भैरंड पक्षी द्वारा स्वर्णद्वीप में जाने के लिए चारुदत्त का मामा एक बकरे को मार रहा था। बकरे को मरणसन्न देखकर चारुदत्त ने उसे णमोकार मंत्र सुना दिया। मामा की बातों में आकर चारुदत्त मामा के साथ भैरंड पक्षी द्वारा बकरे की खाल में बंद होने से पशु समझा जाकर स्वर्णद्वीप ले जाया गया। वहाँ उन्हें सौभाग्य से एक जैनमुनि के दर्शन हुए। दोनों वहाँ बैठ गये। इतने में एक ऋद्धिधारी देव ने आकर सर्वप्रथम चारुदत्त को नमस्कार किया, इसके पश्चात् मुनि को नमस्कार किया। मामा ने इस अविनय का कारण पूछा तो उस देव ने कहा—मैं पूर्व भव में बकरे का जीव था। तब इन्होंने मुझे णमोकारमंत्र सुनाया था। जिसके फलस्वरूप मैं शुभभावों से मरकर देव हुआ हूँ। अत: ये मेरे परमोपकारी हैं। क्योंकि इन्होंने ही मुझे आज उपदेश सुननेयोग्य बनाया है। (सन्मतिसंदेश)

यशोधर चरित्र

गतांक नं० २७१ से चालू

[पवित्र जैनधर्म की प्रभावनापूर्वक निश्चय-व्यवहारनय के विषयभूत अहिंसा किसप्रकार होती है ? किसको होती है ? हिंसा, हिंस्य, हिंसक और हिंसा का फल और सर्वज्ञ वीतराग कथित निश्चय अहिंसा जो कि वीतराग विज्ञानमय सम्यक्रत्नत्रय की आराधनारूप आत्मभाव से आत्मा की पर्याय में होती है, बाह्य में अंदर में अहिंसा ज्ञानी को किसप्रकार होती है ? यह जानना, तब सच्चा जाना हुआ कहा जाता है कि विपरीत अभिप्राय रहित सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का श्रद्धान हो, स्व-पर का श्रद्धान-सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान और निजशुद्धात्मा के प्रतिभासरूप तथा भावभासन इन बातों का स्पष्ट नि:शंक पका ज्ञान हो-तब। अन्यथा लौकिक दृष्टि से हिंसा के ग्रहण-त्याग की बात अज्ञानवश अनंत बार मानी, आत्महित न हुआ, अत: यह जीव इन कथाओं द्वारा भी अपूर्व विवेकज्ञान प्राप्त करे, वह वीतरागी संतों का कहना है।]

वे मुनिगण मार्ग जनित दोषों की शुद्धि के लिये अप्रमत्त-स्वरूप में विशेष सावधान होकर वहीं एक पवित्र जगह में आत्मध्यान करने को बैठ गये। उस दिन सभी मुनियों ने उपवास किया।

दूसरे दिन सुदत्त मुनि ने एक क्षुल्लक और क्षुल्लिका जो सगे भाई-बहिन थे, लघु वय के थे, उनको शहर में भिक्षा-भोजन कर आने की आज्ञा की। गुरु की आज्ञा के माफिक वह धर्मरत्न क्षुल्लक युगल श्रीगुरु को नमस्कार कर आहार के लिये शहर की ओर गया। रास्ते में उन्हें चंडवर्मा पकड़ कर अपने महाराज के पास ले जाने लगा, उस समय क्षुल्लक अभयरुचि ने अपनी छोटी बहन से कहा—बहन! चित्त को सावधान करना। मृत्य से डरने की कोई बात नहीं है। तुम क्या नहीं जानती कि दु:ख भोगने का अपने को चिरसमय से अभ्यास पड़ रहा है और जब तक दु:खों का कारण राग और शरीर का संग बना रहेगा, तब तक उनसे अपना पिंड छूट भी कैसे सकता है ? इसलिये जो नियम से भूमिका के योग्य उपसर्ग आवे; समभाव से भोगना अर्थात् स्वसन्मुख जागृति के बल द्वारा धीरज रखना, ज्ञाता-दृष्टा ही रहना, यही हमारा कर्तव्यपथ है, उसके लिये कोई भी परद्रव्य-क्षेत्र-काल और परभाव हमको क्लेश और बाधा

करनेवाले हैं ही नहीं। आचार्य महाराज उत्तम आराधनारूप तप तो उसे कहते हैं जिसमें खूब समताभाव सहित उपसर्ग-परीषह सहना हो। संयोग दु:ख का कारण नहीं, ज्ञान दु:ख का कारण नहीं किंतु ज्ञातापन भूलना-झूठी गिनती करना, वही दु:ख है। विवेकवाले मार्ग में दु:ख नहीं है। यह सुनकर अभयमति बोली—भैया! हम जब अपना सब हाल जानते हैं, तब फिर हमें दु:ख किस बात का? भैया! पांडित्य वही है और उसका फल भी वही है कि विद्वानों का मन सुख और दु:ख सामग्री में समान भाव रहे। इसप्रकार परस्पर विश्वास का बल दिखाते, ज्ञान-चारित्र में दृढ़ता का अनुभव करते हुए दोनों भाई-बहन नित्यस्वतत्त्व के लक्ष्य में विशेष सावधान और निडर होकर हिंसा के आयतन—चंडमारी देवी के मंदिर पहुँचे।

मंदिर के आंगन खून से लीप हुए की तरह लाल-लाल हो रहा था। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो—देवी ने खून पीने के लिय अपनी जीभ फैला दी है। मांस के ढ़ेर के ढ़ेर रखे हुए थे, उन पर मक्खियाँ सदा भिनभिनाती रहती थीं। वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे—देवी ने माँस न पचने से वमन काई कर दी है।

वे दोनों भाई-बहन राजा के पास पहुँचे। उनसे लोगों ने प्रेरणा की कि आप महाराज को आशीर्वाद दीजिये, जिससे उनका कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो जाये। उन बुद्धिमानों ने उस समय राजा को इसप्रकार आशीर्वाद दिया कि—

'राजन्! जो धर्म सब जीवों का हित करनेवाला है, जो सारे संसार के लिये सुख शांति देनेवाला है—सारा संसार श्रद्धासहित जिससे सत्य शांति का लाभ कर सकता है—उसी धर्म के द्वारा तुम पृथ्वी को राजंवती और एक सच्चे धर्मात्मा, न्यायप्रिय और दयालु राजा से युक्त-बनाओ।'

राजा अपूर्व आश्चर्य में पड़ गया, उन्हें इसप्रकार निर्भय और स्पष्ट बोलनेवाले को देखकर बड़ी शांति और आश्चर्य के साथ सोचा कि क्या यह मानव शरीर को धारण करनेवाला देव-युगल है? अथवा कामदेव और उसकी प्रिया के रूप को शर्मिन्दा करनेवाले कोई नागकुमार जाति के देव युगल हैं? अहा! मैंने तो आज तक ऐसा सुंदर जोड़ा कभी नहीं देखा। इनके देखने से मेरे नेत्रों को बड़ा ही आनंद मिला-आज ही वे सफल हुए। अहा! इनकी धीरता बड़ी विलक्षण है। ये मुझे खड्ग हाथ में उठाये हुए को और ऐसी क्रूर निर्दयी देवी को देखकर भी जरा भी नहीं डरे-विचलित नहीं हुए।

राजा प्रगट में प्रेमसहित उनसे पूछने लगा—आप कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? किस पवित्र कुल में आपका जन्म हुआ है ? और इस बालकपन में-इस सुकुमाल अवस्था में ही-भोग विलासादि से विरक्त होने का—तपस्वी हो जाने का-क्या कारण है ?

राजा मारिदत्त के प्रश्नों को सुनकर अभयरुचि ने अपने वचनरूपी किरणों से मिथ्यात्वरूपी अंधकार को नष्ट करते हुए यों कहना प्रारंभ किया।

राजन्! हमारा चरित धर्मात्माओं को अच्छा लग सकता है और तुम्हें धर्म से प्रेम नहीं है—तुम्हारी अधर्म की ओर अधिक रुचि है। फिर क्यों तुम उसे जानना चाहते हो ? विपरीत प्रकृति-स्वभाव दूसरों के गुणों को नहीं सह सकता। जैसे पित्तज्वरवाले को दूध मीठा नहीं लगता, इसलिये उसके सुनने से तुम्हें कुछ लाभ नहीं। तुम जिसे अपना हित समझ रहे हो, उसे करो। हमें जो कुछ होगा ज्ञातादृष्टास्वभाव में जागृत रहकर जैसा सहना पड़ेगा, उसके लिये हम तैयार हैं।

अभयमति के इतना कहते ही राजा ने हाथ का खड्ग दूर फैंक दिया और धर्म में जिज्ञासु बनकर हाथ जोड़कर उनसे अपने चरित सुनाने का आग्रह किया।

उसी समय सभारूपी सरोवर ने भी अपने कररूपी कमल-कलियों से धर्मामृत के वर्षानेवाले उस बालेन्दु की-अभयमति की पूजा की। अर्थात् सारी सभा ने हाथ जोड़कर उनसे उनके आत्मचरित के सुनने की उत्कंठा जाहिर की।

अभयमति ने तब यों कहना प्रारंभ किया—

राजन्! तुमने अच्छा किया जो अपनी बुद्धि को धर्म की ओर लगाया, हिंसा से मुँह मोड़ा, धन्य है जो जीव कोमल होकर भव्यत्वगुण हृदय में प्रगट करता है, ऐसी भली योग्यता होने पर उनके संसार की स्थिति थोड़ी रह जाती है, स्वयं बुद्धिपूर्वक कल्याण-हित की ओर सावधान होने लगता है। इसलिये मैं तुम्हें जो धर्मामृत से अच्छी तरह भीगे हुए पवित्र चरित्र सुनाता हूँ, उसे चित्त लगाकर सुनो। तुम यदि उसे केवल श्रद्धान करने के लिये भी सुनोगे, तब भी वह तुम्हारा सब दु:ख नष्ट कर सकेगा। यह चरित न केवल सर्वज्ञ भगवान ने ही सुनाया है, किंतु समय-समय पर सहस्रों दु:खों को भोगकर स्वयं हमने भी उसका अनुभव किया है। इसलिये हमारा चरितामृत सर्व दोषों के नष्ट करनेवाला होगा। जो बुद्धिमान अपना भला होने के लिये इस उत्कृष्ट, हितकर और स्वर्गीय सुख संपदा (जो बीच में पलालवत् हो जाती है) प्राप्त

करानेवाले चरित को ध्यान से सुनेंगे, वे अपने कुन्दपुष्प और चंद्रमा के समान उज्ज्वल यश को सारे संसार में और स्वर्ग में फैलाकर दशांगी सुख स्थानवाले पवित्र जैन कुल में जन्म लेकर रत्नत्रय के धारक बनकर अन्त में अविनाशी मोक्षदशा-परमात्मदशारूप आत्मिक सुख प्राप्त करके अक्षय अनंत काल तक परिपूर्ण स्वसुख का उपभोग करते रहेंगे। (क्रमशः)

सज्जन

जो सम्यग्दृष्टि सज्जन हैं, वे नाना दुःखरूप तरंगों से भरे हुए भयानक संसार समुद्र में सम्यग्दर्शनादि गुणरत्नों को ग्रहण करते हैं।

परीक्षापूर्वक धर्म-ग्रहण

जैसे रत्नपरीक्षक वंचना की भीति से परीक्षा करके रत्न ग्रहण करते हैं, वैसे ही बुद्धिमान लोग धर्म की परीक्षा कर प्रयत्न से उसे ग्रहण करते हैं। अज्ञानवश अधर्म को भी धर्म समझते थे, इसलिये महा बुद्धिमान लोग अधर्म की परीक्षा कर उसे छोड़ देते हैं। ग्राह्याग्राह्य का निर्णय करनेवाले तो कुल परंपरा से चले आये धर्म को आँख मींचकर कभी भी ग्रहण नहीं करते हैं। उसे प्रमाण नहीं मानते हैं और मूर्ख के अपवाद वचना का ही जिसमें दोष है, ऐसा सर्वज्ञकथित अनंत गुणवाला धर्म नहीं छोड़ना चाहिये।

शुद्ध वस्तुस्वरूप का अनुभव करनेवाला भाव उस वस्तु में ही लीन है; वस्तु से बाहर रहनेवाला कोई भाव वस्तु का अनुभव नहीं कर सकता; शुद्ध वस्तु की अनुभूति निर्विकल्प है। विकल्प उससे बाहर है।

आचार्यकल्प श्री टोडरमलजी के वचनामृत

विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थश्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन का स्पष्ट लक्षण में—जो तत्त्व विचार में उद्यमी है वह.... अंतरंग प्रीति से उसका साधन करता है। साधन करते-करते जब तक सच्चा तत्त्वश्रद्धान हो; 'यह इसी प्रकार है'—ऐसी प्रतीति सहित जीवादि तत्त्वों का स्वरूप आपको भासित न हो; जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है, वैसे केवल आत्मा में अहंबुद्धि न आये; हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने; तब तक सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि है; यह जीव थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा; इसी भव में या अन्य पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा। (देखो, कितना-निःसंदेह कथन है ?) पृष्ठ २६०

क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन किसी द्रव्य के आधीन नहीं है; इसलिये अपने रागादिभाव दूर होने पर निराकुलता हो; सो यह कार्य बन सकता है। पृष्ठ ३०७

व्यवहार साधन में अनुरागी होकर प्रवर्ते, उसका फल शास्त्र में तो शुभबंध कहा है। पृष्ठ ३३१। दो नयों के ग्रहण की चर्चा अर्थ देखो, पृष्ठ २४८ से २५१

अपना दोष कर्मादि में लगावे, उनको कहा है कि जिनाज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभवे नहीं। पृष्ठ ३१२

केवली-सिद्धभगवान रागादिरूप परिणम नहीं होते और संसार अवस्था को चाहते नहीं, सो यह इस श्रद्धान का बल जानना। पृष्ठ ३२४

इसलिये जो अंतरंग अभिप्राय में मिथ्याविादरूप रागादिभाव है, वे ही आस्रव हैं। उन्हें नहीं पहिचानता, इसलिये इसके आस्रव तत्त्व का भी सत्य श्रद्धान नहीं है। पृष्ठ २२७

अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से है, पृष्ठ २६७

अपने परिणाम बिगाड़ने का भय रखना, सुधारने का उपाय करना, पृष्ठ २६६

विविध-वचनामृत

लेखांक - १६

(२११) चारित्र—

अहो! चारित्रदशा तो पूज्य है, चारित्र तो आत्मा का वैभव है, वह चारित्र तो साक्षात् केवलज्ञान को निमंत्रण देता है। चारित्रदशा में तो अत्यंत अतीन्द्रिय आनंद है। चारित्रवान मुनि तो अरिहंत तथा सिद्धों के अति निकट के पड़ौसी हैं। राग परिणति से दूर होकर निजस्वरूप के अनंत गुणों के वेदन में जो स्थिर हुये - ऐसे मुनि को चारित्रदशा होती है। अहो! ऐसे चारित्रववान मुनि के दर्शन हों तो उनके चरणों की सेवा करें तथा उनके श्रीमुख से शुद्धात्मा के वैभव की बात सुनें। विदेहक्षेत्र में तो वर्तमान में ऐसे अनेक मुनि विचर रहे हैं।

(२१२) अपने शुद्धतत्त्व को उपादेय कर—

हे जीव!

* यह शरीर तो जड़-धूल है, वह तेरे तत्त्व में नहीं है।

* कर्म भी सूक्ष्म धूलि है, वह तेरे तत्त्व में नहीं।

* रागादि परिणाम मैल है, वह भी तेरे शुद्धतत्त्व में नहीं है।

* तेरा शुद्धतत्त्व शरीररहित, कर्मरहित, रागरहित, परम ज्ञान तथा आनंदमय है। अपने ऐसे शुद्धतत्त्व को ही तू उपादेय जान।

* शुद्धतत्त्व को स्वानुभव द्वारा उपादेय करने से रागादि मैल छूट जायेगा, और शरीर तथा कर्म का संबंध छूट जायेगा, परम आनंदमय तथा केवलज्ञानमय परमात्मदशा तुझे प्रगट होगी।

(२१३) आराध्य की आराधना—

आराध्य शुद्ध आत्मद्रव्य,

आराधना करनेवाली शुद्ध पर्याय।

आराधना करनेवाला अपने आराध्य के साथ तन्मय न हो, तब तक सच्ची आराधना नहीं हो सकती। आराधक-पर्याय आराध्य-द्रव्य के साथ तद्रूप हो परिणमित होती है, तभी सच्ची आराधना होती है।

(२१४) आत्मा-

आत्मा भेदाभेदस्वरूपी है।

आत्मा किसके भिन्न है ?

परद्रव्यों के साथ आत्मा को भेद है, अर्थात् भिन्नता है।

आत्मा किससे अभेद है ?

अपने ज्ञानादि अनंत गुणों से आत्मा अभेद है, अर्थात् उससे भिन्नता नहीं, एकता है।

इसी आत्मा को आचार्यदेव ने 'एकत्व-विभक्त' कहकर समझाया है।

एकत्व अर्थात् अपने गुण-पर्यायों से अभेद और विभक्त अर्थात् परद्रव्य तथा परभावों से भिन्न।

ऐसे शुद्ध आत्मा को जानना, वह भेदज्ञान है।

(२१५) आकाश तथा आत्मा

अनंत आकाश को जानने की शक्तिवाला अनंत ज्ञानशक्तिसंपन्न आत्मा, उस आकाश के अनंतवें भाग में रहता है।

और आत्मा के केवलज्ञानरूपी दर्पण में अनंत आकाश एक रजकण समान ज्ञेयरूप से समा गया है।

ऐसे अचिंत्य ज्ञानसामर्थ्य का माप क्षेत्र के विस्तार से नहीं निकलता; वर्तमान ज्ञानपर्याय को उस ज्ञानशक्ति के सन्मुख करते ही ज्ञान की अचिंत्य शक्ति लक्षगत होती है। ज्ञानशक्ति ज्ञान द्वारा ही जानने में आती है, राग द्वारा वह लक्षगत नहीं होती। ऐसी ज्ञानशक्ति का जिसे विश्वास हो, उसे रागादि परभावों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, संयोगुद्धि नहीं रहती; 'मैं तो ज्ञान हूँ'—ऐसा वह निःशंकतया जानता है।

(२१६) पर में सुखबुद्धि, वह पाप का मूल

जिसने बाह्य विषयों में तथा बाह्य संयोगों में सुख माना, वह बाह्य विषयों तथा बाह्य संयोगों के लिये कौन सा पाप नहीं करता ? चैतन्य सुख को भूलकर बाह्य विषयों में ही जिसने सुख माना है, वह जीव बाह्य विषयों में ही सुख के लिये मिथ्या प्रयत्न करता हुआ तीव्र हिंसा-असत्य आदि सभी पापों के करने में संकोच नहीं करता, क्योंकि उसने तो अपना सर्वस्व उसी में माना है। अरे, मेरा सुख तो अपने आत्मा में है, विषयों में कहीं भी मेरा सुख नहीं है - ऐसा अंतरलक्ष करने पर मिथ्यात्व छूटता है, पर में सुखबुद्धि मिट जाती है, अर्थात् तीव्र पाप परिणाम उसे नहीं होते। इसलिये आत्मा के स्वरूप को लक्ष में लेकर उसकी रुचि कर।

(२१७) काम की वस्तु

अरे! जिसे लक्ष में लेने से राग तथा दु:ख की उत्पत्ति होती है, ऐसी वस्तु मेरे किस काम की ? जिसे लक्ष में लेने से वीतरागी आनंद की प्राप्ति हो, ऐसी स्व-वस्तु ही मुझे कार्यकारी है। ऐसा समझकर धर्मात्मा स्वद्रव्य में रत होता है।

(२१८) भीतर जा

दुनिया में जो हो रहा है, उसे होने दे; देह में जो हो रहा है, उसे होने दे-परंतु तू भीतर जा... एक बार अंतरस्वरूप को लक्ष में लेकर उसके भीतर जा... भीतर महा आनंद है.. ज्ञानचेतना का महा विलास भीतर है.. भीतर जा... फिर तुझे बाहर आने की इच्छा नहीं होगी।

(२१९) हे जीव! आत्मा का घात न कर!

'शरीर के बिना मैं नहीं रह सकता'—ऐसा मानकर हे जीव! मिथ्यामान्यता में पड़कर तू अपने आत्मा का घात न कर। शरीर के बिना मैं नहीं रह सकता अर्थात् जड़ से भिन्न ज्ञानादि अनंत गुण-स्वरूप मेरा स्वतंत्र अस्तित्व है- ऐसा तूने स्वीकार नहीं किया और जड़ के अस्तित्व में ही तूने अपने अस्तित्व को स्वीकार किया, यह तेरी बड़ी भारी भूल है। प्रभु! तेरा आत्मा सदाकाल जड़ से भिन्न और केवलज्ञानादि अनंत गुणों से तन्मयरूप ही विद्यमान है-उसे तू जान। जड़ में तेरी कोई निशानी नहीं है। भाई, तू तो ज्ञानमय अनंत गुणों की राशि है; ज्ञानरहित जड़ में तू क्यों मोहित हुआ ? अपने अनंत गुणों को सम्हालकर अपने आनंद का अनुभव कर।

(२२०) अंतर्मुख देखो तो आनंद का पार नहीं है

बाह्य में मैं हूँ ही नहीं, तब बाह्य प्रसंगों से मुझे दु:ख क्यों हो ? मैं तो अपने अंतरस्वरूप में हूँ, और अंतरस्वरूप में तो अकेला आनंद ही आनंद भरा है। इसप्रकार धर्मात्मा अंतर्मुख हो खुद को आनंदस्वरूप ही अनुभवता है। उसके आनंद का पार नहीं है, अपने आत्मा में आनंदसागर उछल रहा है। ओहो ! अंतर्मुख देखो तो आनंद का पार नहीं है।●

दोहा — 'कोटि वर्ष का स्वप्न भी जागृत होत समाय,
त्यों ही विभाव अनादि का, ज्ञान होता नश जाय ॥'

अर्थ—जिसप्रकार जागृत होने पर करोड़ों वर्ष का स्वप्न विलीन हो जाता है, उसीप्रकार अनादि कालीन विभावभाव सम्यग्ज्ञान होते ही नष्ट हो जाता है।

नित्यता के लक्ष्य से स्वभाव का उदय हुआ वहाँ विभाव विराम को प्राप्त होता है।

सभी चिंता को छोड़कर निश्चिंतरूप से चैतन्य का चिंतन कर

[अपने आत्मतत्त्व का एक क्षण तो चिंतन कर... अरे! वर्तमान आधे क्षण तो चिंतन कर!]

रे चैतन्य हंस! स्व-पर का विवेक करके तू समस्त चिंता को छोड़ और निश्चिंत होकर, परमपद में अपने चित्त को लगा।

रे जीव! यह, दुर्लभ मनुष्यभव एवं जन्म-मरण और अज्ञानरूप दुःख नष्ट करने का अवसर आया है, तो संसार की समस्त चिंता छोड़कर अपने वर्तमान ज्ञान को सर्वज्ञ की श्रद्धा से पवित्र बना और उसे अंतरोन्मुख कर। अंतरंग में तेरा निजपद परमानंद से भरा हुआ है, उसी में अपने चित्त को स्थिर कर। चैतन्यस्वरूप में चित्त को लगाने से जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख जगत में अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इंद्र आदि के पुण्य की पदवी में भी जो सुख नहीं है, वह सुख चैतन्य के अनुभव में धर्मात्मा को है।

देखो भाई, आत्मा को सुख हो ऐसी बात तो यह है। यह आत्मा परद्रव्य से पृथक् और निरुपाधिक चैतन्यतत्त्व है, स्वयं ज्ञान है, नित्य ज्ञानानंद से भरा हुआ है, उसमें दूसरी चिंता कैसी? अरे! अपने चैतन्य निधान को भूलकर तू पर की चिंता में क्यों पड़ा है? अरे! उसमें तेरा हितरूप प्रयोजन ही क्या है? अब पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर परिपूर्ण वस्तु का माहात्म्य जान और उसी का सेवन कर। स्वतत्त्व का ही सेवन कर! अनादि काल से तू मकड़ी की भाँति विकल्पों के जला में फँस रहा हे और दुःखी हुआ, अब तो भेदविज्ञानी बनकर पर की चिंता छोड़ और सुख की राह ले। निश्चिंत होकर नित्य निरंजन निज परमतत्त्व को ध्यान में ले। अंतर में तेरा आत्मा ही निरंजनदेव है, उसमें पर की चिंता का प्रवेश नहीं है।

ऐसे निज शुद्धात्मा का ध्यान करने से जो अतीन्द्रिय आनंद होता है, वह सुख तीन लोक में अन्यत्र कहीं नहीं है; करोड़ों देवियों के साथ रमण करनेवाले इन्द्र को भी उस वैभव में सुख नहीं है, परद्रव्य के अनुराग में तो आकुलता है-दुःख है। आराधना करने योग्य तो स्वद्रव्य ही है ऐसे आत्मा को पहचानकर प्रथम निर्णय कर और पश्चात् दूसरी चिंतायें छोड़कर निश्चिंत रूप से आत्मा का ध्यान करने पर तुझे सम्यग्दर्शन होगा, उसमें तुझे अपूर्व शांति और आनंद मिलेगा। ज्ञान-दर्शनमय निजशुद्धात्मा के अनुभव में अनंत सुख है।

अरे, सुख तेरे आत्मा में है, वहाँ तू देखता नहीं है; और पर की चिंता में दु:ख है, वहाँ तू दौड़ कर जाता है। संत कहते हैं कि भाई! उस पर की चिंता से विमुख होकर आनंद के धाम ऐसे अपने आत्मा का निश्चिंत होकर ध्यान कर।

आत्मा की प्रशंसा सुननेमात्र से उसका स्वाद नहीं आयेगा परंतु स्वयं अंतर में उस आत्मा का ध्यान करे तो उसका साक्षात् स्वाद आये।

जो अपना है, उसे तो अपना नहीं जानता और जो अपना नहीं है, उसे अपना बनाना चाहता है; इसलिये जीव दु:खी होता है। स्वतत्त्व क्या है और उसका अपार वैभव कैसा है? उसे जाने तो उसका ध्यान करे और मिथ्या ध्यान को छोड़ दे। पर की चिंता से और पर में कर्ता, भोक्ता-स्वामित्व से तो कष्ट का अनुभव कर रहा है, अब स्वरूप की महिमा में आ जा।

प्रश्न—आत्मा का ध्यान कैसे होता है?

उत्तर—तुझे पर का ध्यान करना तो आता है क्योंकि पर के प्रति तुझे प्रेम है। स्त्री, पुत्र, पैसा, व्यापार आदि का प्रेम होने से उनके विचारों में कैसा मग्न हो जाता है! उसीप्रकार आत्मा का प्रेम प्रगट कर तो आत्मा के चिंतन में एकाग्रता होगी, उसका नाम ध्यान है। पर का प्रेम छोड़ और आत्मा से प्रेम कर तो आत्मा का ध्यान हुए बिना नहीं रहेगा। क्योंकि जिसे जिसका प्रेम होता है, वह उसकी चिंता में एकाग्र रहता है, चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति का जिसे सच्चा रंग लगा हो, वह अन्य चिंताओं को छोड़कर निश्चितरूप से आत्मा में चित्त को लगाता है और आत्मा के ध्यान से उसे कोई अपूर्व सुख प्रगट होता है। यह सब अपने में ही करना है, इसमें पर की कोई उपाधि नहीं है, कोई चिंता नहीं है। अहा, जिसके अवलोकन में अत्यंत सुख है—ऐसा मैं हूँ, इसप्रकार तू अपने आत्मा को देख। जहाँ अपने में ही सुख है, वहाँ पर की चिंता कैसी? परभाव से भिन्न होकर जिसके एक क्षण अवलोकन में ऐसा सुख है, उसके पूर्ण सुख की तो बात ही क्या! इसप्रकार धर्मी को आत्मा की कोई परम अचिंत्य महिमा स्फुरायमान होती है... अपने में ही वे आनंद का सागर उछलता हुआ देखते हैं। ऐसा जानकर हे जीव! तू भी धर्मात्मा की भाँति निश्चिंतरूप से अपने आत्मा का ध्यान कर... तुझे भी अपने में ऐसा ही सुख दृष्टिगोचर होगा। एक क्षण तो ध्यान कर... अरे, वर्तमान आधी क्षण तो कर।●

हे जीव! भेदज्ञान के बल से निर्भय हो!

[परमात्मप्रकाश, गाथा ७१-७२ का प्रवचन]

हे जीव! तू शरीर की दृष्टि छोड़कर आत्मा की दृष्टि कर तो तुझे प्रतीति होगी कि शरीर के टुकड़े होने से मेरे टुकड़े नहीं होते। तू भयभीत न हो कि शरीर का छेदन होने से मैं छिद जाऊंगा। असंख्य प्रदेशी अखंड आत्मा के एक प्रदेश का भी कोई छेदन नहीं कर सकता, तथा अनंत गुणों के पिंड में से एक भी गुण को कोई काटकर अलग नहीं कर सकता, ऐसा ज्ञानानंद स्वभावी मैं हूँ—ऐसा तू जान; और ऐसे अपने परमात्मस्वरूप का निर्विकल्प होकर ध्यान कर। उसके ध्यान से अल्प काल में ही तू भवसागर से पार हो जायेगा और तुझे देहातीत परमानंद स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी।

शरीर से भिन्न आत्मस्वरूप को बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे आत्माराम! तू तो ज्ञान है, शरीर तू नहीं है; इसलिये शरीर में बुढ़ापा या मरण आये, उससे तू न डर। आत्मा तो जरा (वृद्धावस्था) से रहित अजर और मृत्यु से रहित अमर है। उसीप्रकार शरीर सुंदर जवान हो तो वह भी तू नहीं है, इसीलिये उसमें 'यह मेरा'—ऐसा मोह न कर। मैं जवान, मैं सुंदर अथवा मैं वृद्ध, मैं कुरूप-इसप्रकार देह में आत्मबुद्धि न कर। २०-२० वर्ष के युवा राजकुमार शरीर से भिन्न अतीन्द्रिय आत्मा की प्रतीति करके उसे साधने के लिये वन में चले गये। अरे, सम्यग्दृष्टि गृहस्थदशा में राजपाट तथा रानियों के बीच रहने पर भी वे अंतर में जानते हैं कि यह राजपाट और यह रानियाँ हमारी नहीं हैं। जहाँ शरीर भी अपना नहीं है, वहाँ अन्य द्रव्य अपने कैसे हो सकते हैं? ऐसी प्रतीति होने से धर्मी जीव को मृत्यु का भय छूट गया। 'मेरी मृत्यु हो जायेगी' ऐसा भय उसे नहीं होता। चैतन्य प्रभुता में कभी वृद्धावस्था या मृत्यु है ही नहीं।

अरे जीव! एक बार तो जगत से और शरीर से भिन्न आत्मा को लक्ष में ले तो तेरे समस्त भय दूर हो जायें। पाँच इन्द्रियाँ या इन्द्रियों के विषयों संबंधी समस्त विकल्प जाल को छोड़कर अंतरोन्मुख होकर अतीन्द्रिय आत्मा को तू अपना ध्येय बना।

इस शरीर का छेदन, भेदन हो या नष्ट हो जाये, उसमें तू भयभीत क्यों होता है? यह शरीर तू नहीं है—ऐसा समझकर भय को छोड़, शुद्धात्मा का ध्यान कर। धर्मी को स्वप्न में भी शरीर में

अपनत्व की बुद्धि नहीं होती; इसलिये शरीर की हीनाधिकता से वे अपनी हीनाधिकता नहीं मानते, शरीर में रोग-निरोगता से वे अपने को रोगी-निरोगी नहीं मानता; शरीर के छेदन-भेदन से वह अपना छेदन-भेदन नहीं मानता; शरीर के नाश से वह आत्मा का नाश नहीं मानता; वह तो भिन्न आत्मा को ध्येय बनाता है। मैं तो ज्ञान हूँ, मैं तो आनंद हूँ—इसप्रकार निजस्वरूप को ध्यान में उपादेय करता है, इसके अतिरिक्त परभाव को अंश मात्र भी अपने में ग्रहण नहीं करता।

देखो, कोई मुनि हो, शरीर को सिंह-बाघ आकर फाड़ते हों-टुकड़े करके खाते हों, उस समय वे मुनि तो अंतर में शुद्धात्मा को ध्येय बनाकर ध्यान मग्न होते हैं और ऐसी धारा उल्लसित होती है कि क्षपकश्रेणी लगाकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। जहाँ केवलज्ञान होता है, वहाँ शरीर भी उत्तम परमौदारिक बन जाता है, ऐसा मेल है, तथापि वह शरीर भी उनका नहीं है। वह शरीर भी नाशवान है परंतु उसके नाश से आत्मा का नाश नहीं होता, आत्मा तो शरीर रहित, सिद्धदशारूप से सादि-अनंत विराजमान रहता है।

वर्तमान संसारदशा में भी आत्मा शरीररहित ही है, शरीररूप कभी हुआ ही नहीं। अंतर में अमृत का समुद्र भरा है, वह तो ज्ञानशरीरी है, ज्ञान ही उसका शरीर है। असंख्य प्रदेश सदा ज्ञान-आनंदमय है, ऐसे आत्मा को धर्मी ध्येय बनाता है; वहाँ शरीर में छेदन भेदन हो, उसका भय उसे नहीं रहता, इसलिये अभिप्राय में उसे ऐसा नहीं होता कि यह शरीर छिदने से मेरे आत्मा का छेदन हो गया! अथवा यह शरीर भिदने से मेरे ज्ञान का भेदन हो गया! मैं ज्ञान हूँ और जगत के समस्त आत्मा ज्ञान हैं; इसलिये दूसरे जीवों को भी संयोग द्वारा छोटा-बड़ा नहीं मानता। अज्ञानी स्वयं संयोग से अपना बड़प्पन मानता है और अपनी ऐसी दृष्टि के कारण दूसरे जीवों का माप भी संयोगों के द्वारा निकालता है। भाई, आत्मा में संयोग नहीं है और संयोगों में आत्मा नहीं है। आत्मा अनंत गुण का पिंड है, उसके गुणों की शुद्धता की जिसके अधिकता हुई, वह बड़ा और उस शुद्धता की जिसके न्यूनता है, वह छोटा—परंतु संयोगों की न्यूनाधिकता से आत्मा छोटा या बड़ा नहीं है। स्वभाव से तो समस्त आत्मा ज्ञानानंद से परिपूर्ण भगवान हैं। संयोग का लक्ष छोड़कर ऐसे स्वभाव में लक्ष को स्थिर कर तो उसके ध्यान द्वारा परम आनंद का अनुभव होगा।

तू शरीर की दृष्टि छोड़कर आत्मा की दृष्टि कर तो तुझे प्रतीति होगी कि शरीर के टुकड़े होने से मेरे टुकड़े नहीं होते। तू भयभीत न हो कि शरीर का छेदन होने से मैं छिद जाऊँगा!

असंख्य प्रदेशी अखंड आत्मा के एक प्रदेश को भी कोई तोड़ नहीं सकता; तथा अनंत गुण के पिंड में से एक भी गुण को कोई पृथक् नहीं कर सकता। ऐसा ज्ञानानंदस्वभावी मैं हूँ—ऐसा तू जान; उसे तू ध्येय बना। जिस परम तत्त्व के ध्यान से भवसागर का पार प्राप्त होता है, वह तू है। ऐसे अपने स्वतत्त्व को ध्येय बनाने से अपूर्व समाधि होगी और भवसागर का किनारा मिलेगा।

शरीर से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को जो ध्याता है, उसे शरीर का छेदन-भेदन होने से असमाधि नहीं होती, शरीर का छेदन-भेदन और तत्संबंधी किंचित् राग-द्वेष कदाचित् हो तो वह राग-द्वेष भी मेरे ज्ञानानंद तत्त्व से बाहर है; ऐसा भेदज्ञान करके जो ज्ञानानंदस्वरूप परमात्मतत्त्व को निर्विकल्प ध्यान में ध्याता है वह अल्प काल में ही देहातीत परमानंदस्वरूप मोक्ष प्राप्त करता है। यह भेदज्ञान का फल है।

इसलिये हे जीव! तू भेदज्ञान के बल से निर्भय हो।●

हे जीव!

तू वीतरागमार्ग का उपासक हुआ और जगत के जीवों का स्वभाव तूने जान लिया, तो अब जगत के जीवों द्वारा निंदा-प्रशंसा हो, उसमें तुझे कहाँ अटकना रहा? —तुझे तो अपने वीतराग मार्ग में चलते रहना है।

विवेक की महत्ता

अविवेकी मानी जीव अपनी रक्षा और प्रतिष्ठा के लिये दूसरे जीवों की निंदा करता है, उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करता रहता है। उसका अपकार करने का भी यत्न करता है। पर-विवेकी जीव अपनी निर्मल परिणति द्वारा जगत का यह रंग राग देखता हुआ भी उस और प्रवृत्त नहीं होता, वह तो आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने दोषों को दूर करने और मानादि मल को दूर करने में ही अपनी शक्ति को पवित्र बल देता है। अर्थात् नित्य ज्ञानचेतना के स्वामीत्व के बल द्वारा विवेकी रहकर अहंकार को जीतता है। यही उसकी महत्ता है।

ध्येय को शिथिल न होने दे

[जिस ध्येय से तू निवृत्ति सहित सत्संग का सेवन कर रहा है, उस ध्येय को न भूल, उस ध्येय को शिथिल न होने दे; अर्थात् हे मुमुक्षु! तू सम्यक्त्व का उद्यम कर।]

मोक्षरूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है, और संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है – ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है, इसलिये मुमुक्षु का सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये अत्यंत प्रयत्न कर्तव्य है। अरे, संसार में बहुत से भवों में सम्यग्दर्शनरहित जीव ने कुकुर्मों के कारण भ्रमण किया है, दीर्घकाल–अनंत काल व्यतीत होने पर भी सम्यग्दर्शन को कहाँ प्राप्त करता है ? सम्यग्दर्शन की प्राप्ति महा दुर्लभ है; इसलिये हे जीव ! तू सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का परम उद्यम कर।

सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में होता है, चारों गति में होता है; सम्यग्दर्शनसहित व्रत पाँचवें गुणस्थान में होता है। सम्यग्दर्शन के बिना मात्र शुभराग में पंचम गुणस्थान या धर्म माने, मोक्षमार्ग माने तो उसमें तो मिथ्यात्व का पोषण होता है; मोक्षमार्ग के क्रम की उसे खबर नहीं है। मोक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्व बिना धर्म का प्रारंभ नहीं होता; सम्यक्त्व बिना श्रावकत्व या मुनित्व नहीं होता। अरे जीव ! धर्म का स्वरूप क्या है और मोक्षमार्ग का क्रम क्या है ? वह प्रथम जान। सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य तो तूने अनंत बार किये, फिर भी तू संसार में ही भटकता रहा, और दु:ख ही भोगता रहा।

रागरहित आत्मा का भूतार्थस्वभाव, आश्रय करनेयोग्य स्वभाव क्या है – उसे स्वानुभूतिसहित जानने से ही आत्मा सम्यग्दृष्टि हो सकता है; जबसे जीव सम्यग्दृष्टि होता है, तभी से मोक्षमार्गी होता है। पश्चात् स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ में वृद्धि अर्थात् शुद्धि अनुसार पाँचवाँ–छठवाँ–सातवाँ आदि गुणस्थान प्रगट होते हैं।

जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है, वहाँ राग में रुचि–राग में एकत्व की बुद्धि है; वहाँ तो धर्म है ही नहीं; वहाँ व्रतादि सब बालव्रतादि हैं। बालव्रत, बालतप के राग को धर्म माने, वह तो 'बकरे को निकाला और ऊँट घुस गया'—ऐसी स्थिति हुई। अर्थात् जरा अशुभ छोड़कर शुभराग को धर्म मानने लगा तो वहाँ मिथ्यात्वरूपी बहुत बड़ा अशुभरूपी ऊँट घुस गया।

चौथे की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान में निज शुद्धात्मस्वभाव का विशेष आलंबन है, वहाँ अप्रत्याख्यान संबंधी चारों कषाय छूटकर आंशिक स्वरूपाचरण का आनंद बढ़ा ही है।

सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग के देव से भी पंचम गुणस्थानवर्ती मेंढ़क शरीर धारी को [वीतरागता (स्वाश्रितधर्म) ज्यादा होने से] अधिक आनंद है।—यह दशा सम्यग्दर्शनसहित को ही होती है—इसलिये सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का परम पुरुषार्थ प्रथम कर्तव्य है। और सम्यक्त्व प्राप्त करके उसकी रक्षा निरन्तर करनी चाहिये।

अरे, चौरासी के अवतार में सम्यक्त्व की प्राप्ति अन्अभ्यास के कारण बहुत दुर्लभ है; भूतार्थस्वभाव की प्राप्ति का अभ्यास करे तो वह अपने ही अधिकार में होने से सुलभ है। सम्यक्त्वी को नित्य विज्ञानघनस्वरूप का आलंबन (आश्रय) है, उसे भूमिका के योग्य रागादि आयें, तथापि अंतर्दृष्टि में से शुद्धस्वभाव से कभी च्युत होते नहीं, यहाँ निर्मल श्रद्धा के बाद श्रावक के व्रत को ग्रहण करने का उपदेश देंगे, किंतु उसमें राग की मुख्यता नहीं है, मुख्यता तो शुद्ध स्वभाव की ही है। यदि उसकी मुख्यता छूटकर राग की मुख्यता हो जाये तो सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाये। जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसने मोक्ष का वृक्ष अपने आत्मा में बो दिया और जनम-मरणादि भव का बीज जला दिया। इसलिये हे मुमुक्षु! तू ऐसे सम्यग्दर्शन का परम उद्यम कर, उसी के द्वारा तेरे सत्समागम की सफलता है। जिस ध्येय से तू निवृत्ति लेकर सत्संगति कर रहा है, उस ध्येय को मत भूल.... शिथिल न होने दे।●

वह क्या-क्या नहीं करेगा ?

बाह्य विषयों में सुख माननेवाले जीव उन-उन विषयों की प्राप्ति के लिये क्या-क्या नहीं करते ?-दिन-रात उनमें लगे रहते हैं; तो जिसे आत्मस्वरूप में ही सुख भासित हुआ है, वह जीव आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये क्या-क्या नहीं करेगा ? दिन-रात—सतत उद्यम द्वारा परिणामों को आत्मा में लगाकर वह अवश्य ही आत्मिक-सुख का अनुभव करेगा।

जैन शिक्षण कक्षा में प्रश्नोत्तर

प्रश्न—स्त्री, पुत्र, देह-धनादि बाह्य पदार्थों को संसार एवं संसार के कारण मानना, वह कौन से तत्त्व की भूल है ?

उत्तर—मुख्यता से आस्रव-बंधतत्त्व की भूल है।

हेतु-संसारदशा जीव में होती है, जो अशुद्ध उपादान है, वह जीव से भिन्न पदार्थ में नहीं होता-आस्रवभाव और बंधभावरूप जीव की अशुद्धदशा जीव की पर्याय में है, बाह्य में नहीं, यदि बाह्य वस्तु जीव का संसार हो तो उनके वियोग होने पर जीव मोक्षदशारूप हो जाये किंतु ऐसा नहीं है।

दृष्टांत- संसारी रागी जीव

सिद्धांत-संसारी जीव अपनी भूल से ही दुःखी हो रहे हैं।

प्रश्न—अपेक्षित धर्मों को श्रुतज्ञानी जानता है, केवलज्ञानी नहीं जानता, सर्वज्ञ के ज्ञान अपेक्षा संसारी की पर्यायें क्रमबद्ध है, किंतु अल्पज्ञ-श्रुतज्ञानी के ज्ञान अपेक्षा संसारी की पर्यायें अक्रम भी हैं, ऐसा मानने में कौन तत्त्व की भूल ?

उत्तर—मोक्षतत्त्व की भूल है, कारण कि श्रुतज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है जो केवलज्ञान के अनुसारी श्रद्धा करनेवाला है, वह परस्पर विरुद्ध प्रतिभास कैसे करे ? श्रुतज्ञानी अपेक्षित धर्मों को ज्ञेय रूप से जाने तो सर्वज्ञ क्यों न जाने ?

धर्म का मूल सर्वज्ञ है। ज्ञ-ज्ञान-जानना जिसका सहज स्वभाव है, वह किसको न जाने ? कोई भी ज्ञेय हो, वह जो सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात न हो तो ज्ञेय का ज्ञेयत्व क्या ? ज्ञान उनके विषय को न जाने तो ज्ञान का ज्ञातापन क्या ? पर को पर के साथ तन्मय होकर नहीं जानता, उस अपेक्षा ज्ञान पर को जानता है, ऐसा कहना उपचरित सदभूत व्यवहारनय से है किंतु स्व-पर प्रकाशक ज्ञान है, वह ज्ञानोपयोग तो निश्चय से है, उपचार नहीं है। अतः केवलज्ञान तो एक ही समय में एक साथ (युगपत-अक्रम) सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल और सर्व भावों को सतत् सदा सर्वथा सर्वत्र पूर्णतया स्पष्ट जानता ही है, कम जाने-न जाने, उसे पूर्णज्ञान नहीं कहा है।

प्रश्न—यदि सबकी अनादि अनंत सर्व पर्यायों को केवलज्ञानी-सर्वज्ञ जानते हैं तो मेरी प्रथम पर्याय कौन सी बता दो ? इस मान्यता में कौन तत्त्व की भूल है ?

उत्तर—मुख्यता से मोक्षतत्त्व की तथा जीवतत्त्व की भूल है ?

हेतु—द्रव्य अनादि अनंत सर्वदा है तो उनकी पर्यायें भी अनादि से चालू ही हैं, इसलिये जो कोई प्रथम पर्याय देखना चाहता है, उन्होंने द्रव्य को अनादि अस्तिरूप माना ही नहीं। द्रव्य स्व से है, पर से नहीं—ऐसा सत्पना (अस्तित्व) नहीं माना। उससे इस मान्यता में अपने द्रव्य की सत्ता ही न रही। मूल में भूल यह रह गई कि उसने सर्वज्ञस्वभाव को नहीं माना, उसमें जीव और मोक्षतत्त्व की भूल है। केवलज्ञान विश्व को एक समय में एक साथ सर्वथा परिपूर्ण और स्पष्ट जानता ही है, ऐसी प्रतीति उसे नहीं रही। धर्म का मूल सर्वज्ञ है, उसके जानने से ही धर्म की शुरुआत हो सकती है।

मूरख नहीं किंतु ?

एक बार एक आदमी के यहाँ चक्रवर्ती राजा पधारे, और उसने उनका बहुत स्वागत-सन्मान किया; जिससे प्रसन्न होकर चक्रवर्ती ने उस आदमी से कहा 'माँग ले.. माँग ले!-तुझे जो चाहिये, माँग.. तू जो भी मांगेगा वह तुझे दूँगा ?' तब उस आदमी ने चक्रवर्ती से कहा – 'तुम मेरे घर में झाड़ू लगाओ।'

कैसा मूरख ? चक्रवर्ती के पास से उसे कुछ भी माँगना नहीं आया। आत्मा भी ऐसी ही मूर्खता कर रहा है। भगवान आत्मा चैतन्यचक्रवर्ती प्रसन्न होकर कहता है – माँग ले... माँग ले! सम्यग्दर्शन से ले, केवलज्ञान और सिद्धपद जो तुझे चाहिये, उसे देने की शक्ति मुझमें है। तब जो ऐसी भावना करता है कि शरीर अच्छा रहे और पुण्य का फल मिले तो वह मूर्ख नहीं किंतु – मूर्खों का सरदार है। अरे, चैतन्य चक्रवर्ती से कहीं जड़ की और पुण्य के फल की माँग की जाती होगी ?

धार्मिक शिक्षण कक्षायें

मंदसोर तारीख १०-१-१९६८ हमारी प्रार्थना द्वारा श्री पंडित नेमीचंद वेणीचंद रखियालवाले (जो महिदपुर में प्रवचन देने ठहरे थे) हमारे यहाँ प्रवचन देने हेतु पधारे और समाज के अति प्रेम अनुरोधवश एक मास से धार्मिक प्रवचन तथा जैन शिक्षण का कार्यक्रम चला रहे हैं। हमेशा प्रवचन में मोक्षमार्गप्रकाशक तथा शिक्षण कक्षा में छहढाला, जैनसिद्धान्त प्रवेशिका चलाते हैं। पंडितजी की शैली, अति रोचक उदाहरण, ओजस्वी वाणी, श्रोताओं का मंत्र मुग्ध सा हो जाना, हर्षोल्लास जो देखते ही बनता था। सभाजन बारंबार आश्चर्य करते थे कि इसप्रकार से सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वज्ञान की अति स्पष्ट निर्मल कथनी हमने जीवन में कभी नहीं सुनी। छह सामान्य गुण, सर्वज्ञता, स्वसन्मुख ज्ञाता बनने के लिये अकर्तापन-क्रमबद्ध पर्याय से सम्यक् पुरुषार्थ की सिद्धि आदि चर्चा हमारे समाज ने कभी नहीं सुनी, यह सब वीतराग मार्ग की प्रभावना परम कृपालु पूज्य स्वामीजी के असीम प्रभाव से ही हो रही है। यहाँ सोनगढ़ के प्रति गलत प्रचार मनमाने ढंग से हो रहा था, उसका सच्चा समाधान पंडितजी द्वारा हुआ है। हमने जो गलत धारणा बनाई थी, वह भ्रम हमारा नि:संदेहतया छूट गया है।

यहाँ पर श्री जेठमलजी 'जैनबंधु' कविराज, नारायणगढ़वाले जो हमारे विशेष अनुरोध से पंडितजी नेमीचंदजी सा० के सानिध्य में रहे और यहाँ मुमुक्षु मंडल की स्थापना, स्वाध्याय भवन का निर्माण आदि का पवित्र श्रेय श्री जेठमलजी को ही है। यहाँ से आप पंडित जी को नारायणगढ़ प्रवचनार्थ ले गये थे, सुनकर जैनेतर समाज भी बहुत-बहुत प्रसन्न हुए, अच्छी संख्या में लाभ लिया। यहाँ से तारीख १९-१-६८ को बड़नगर दिगम्बर जैन समाज का अति उत्साह होने से पंडितजी वहाँ पधारे हैं। निवेदक - मुमुक्षु मंडल मंदसौर (म.प्र.)

सोनगढ़ सुवर्णपुरी समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे श्री समयसार कलश टीका तथा दोपहर को श्री समयसारजी शास्त्र हैं, बाहर गाँव से तीर्थयात्री संघ, जैन जैनेतर बंधु जो धर्म-जिज्ञासु हैं विशेष संख्या में आते रहते हैं। [भोजनशाला में मेहमानों के लिये सुंदर संतोषजनक समुचित व्यवस्था चालू हो गई है। इसके लिये श्री मोहनभाई

तुरखियाजी ने सारा कारोबार ओनरेरी रूप में सम्हाल लिया है। अत: सब साधर्मियों द्वारा आपको धन्यवाद]

[सोनगढ़ में लाभ लेने के इच्छुकों को ठहरने की मकानों की कमी थी। अत: श्री प्रवचन मंडप की पश्चिम दिशा में श्री कहाननगर सोसायटी स्थापित होकर ६० ब्लोक सुंदर ढंग से बनाने का प्रारंभ हो गया है, उनका शिलान्यास श्री नवनीतभाई सी. जवेरी के पुनीत हस्त से तारीख २२-१-६८ को हुआ है। यह योजना प्राइवेट होने से पत्र व्यवहार उनसे करें।]

धर्म प्रभावना के समाचार

खड़ेरी—(दमोह) श्री पंडित धन्नालालजी (ग्वालियर निवासी) के पधारने से महती धर्म प्रभावना हुई, पाँच दिन ठहरे २१ प्रवचन दिये, आसपास के गाँवों के धर्म प्रेमी बड़ी संख्या में आये, सभी ने धर्म लाभ लिया।

शाहपुर—(जिला सागर) समाज एवं पूज्य क्षु० चिदानंदजी के विशेष आग्रह से आप शाहपुर पधारे। ४ दिन रहकर विशेष धर्म प्रभावना की। अनेक विद्वानों ने लाभ लिया और यहाँ पर मुमुक्षु मंडल की स्थापना हुई। सर्व समाज को विशेष हर्ष हुआ। यह सब तत्त्वज्ञान का निर्मल प्रकाश परमोपकारी पूज्य श्री कानजीस्वामी की पवित्र देन है। पंडित श्री धन्नालाल द्वारा निस्पृहता से पवित्र ज्ञानयज्ञमय उत्तम शैली देखकर म०प्र० में बहुत ही धर्म प्रचार हो रहा है। तथा १०५ क्षु०जी श्री चिदानंदजी द्वारा बंडा ग्राम में मुमुक्षु मंडल की स्थापना हुई है। यहाँ सभी साधर्मीजन नि:संकोचतया स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट तथा सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का परमोपकार मान रहे हैं।

—गोविंददास जैन खड़ेरी

सर्वोपयोगी संग्रह योग्य नया प्रकाशन

'टोडरमलजी स्मारिका'

पृष्ठ १७६, मूल्य आधा अर्थात् १-००, पोस्टेज ३० पैसा अलग। संपादक पंडित डॉ० श्री कस्तूरचंद्रजी कासलीवाल, जिनने परम उत्साह से इतने सुंदर लेख सामग्री प्राप्त की है, जिसमें खास उच्च कक्षा के विद्वानों द्वारा असाधारण समय, शक्ति, उत्साह और खास चिंतन अभ्यास द्वारा तैयार किये हुए बड़े-बड़े लेखों की संख्या ४० है, उपरांतु लघु लेख तथा सुंदर काव्य हैं अनेक चित्र हैं। प्रत्येक ग्रंथ भंडार लायब्रेरी, स्वाध्याय भवन, और धर्म जिज्ञासुओं द्वारा यह ग्रंथ खास संग्रह योग्य है, मनन योग्य है, अवश्य बुलावें।

पता -श्री टोडरमल स्मारक भवन,
ठि० ए-४, गांधीनगर रोड-बापूनगर
पो० जयपुर (राजस्थान)
तथा सोनगढ़ (सौराष्ट्र) से भी यह ग्रंथ मिलेगा।

सोनगढ़ (सुवर्णपुरी) विहार समाचार

[फागण सुदी दोज सोनगढ़—जिनमंदिर की वर्षगाँठ का उत्सव मनाकर फागण सुदी ३ पूज्य कानजीस्वामी मंगलविहार करेंगे। कार्यक्रम ऐसे है]

लाठी- (कलापी नगर) फागण सुदी ३ शनिवार तारीख २-३-६८

राजकोट - फागण सुदी ४ से वदी १ तारीख १३ से १५ मार्च

वडाल - तारीख १६ मार्च (यहाँ से सिद्धक्षेत्र श्री गिरनारजी तीर्थक्षेत्र की वंदनार्थ तलहटी जिनमंदिर तक।)

पोरबंदर - तारीख १७ से २४ मार्च,

जेतपुर – तारीख २५ से २८

गोंडल– तारीख २९ से तारीख १ अप्रेल

वडिया – चैत्रसुदी ४ से ७ तारीख २ से ५

मोरबी – चैत्र सुदी ८ से ११ तारीख ६ से ९

वांकानेर – चैत्र सुदी १२ से १५ तारीख १० से १३ अप्रेल

चोटीला – तारीख १४ अप्रेल

सुरेन्द्रनगर – तारीख १५ से १८

वढ़वाणशहर – तारीख १९ से २२

जोरावरनगर – तारीख २३ से २५

वींछिया – बदी १४ से वैशाख सुदी ६ तारीख २६ से तारीख ३–५–६८ तक यहाँ वैशाख सुदी २ पूज्य कानजीस्वामी की ७९ वीं जन्म जयंती मनाई जायेगी, बड़ा उत्सव होगा।

उमराला – वैशाख सुदी ७–८ तारीख ४–५ मई

लींबडी– वैशाख सुदी ९ से १४ तारीख ६ से ११ मई

सोनगढ़ – प्रवेश – वैशाख सुदी १५ रविवार तारीख १२–५–६८

बदी १ तारीख १३–५–६८ सोमवार से सोनगढ़ में विद्यार्थीओं का शिक्षणवर्ग प्रारंभ होगा, २० दिन तक चलेगा।

नया प्रकाशन

छहढाला सुबोध टीका-सचित्र [आवृत्ति]

यह ग्रंथ सर्वज्ञ वीतराग कथित सर्व शास्त्रों के साररूप होने से, पाठ्यपुस्तकरूप में भी अति सुगम और प्रसिद्ध है, संक्षेप में आत्महितरूप और गागर में सागर समान जैन तत्त्वज्ञान भरा है, सब कोई समझ सके ऐसी स्पष्ट शैली सहित सचित्र ग्रंथ ऐसा सुंदर है कि वर्तमान समाज में सब जगह जिज्ञासुओं को देख देखकर बांटने योग्य है। पृष्ठ संख्या २१०, लागत मूल्य १-५० होने पर भी प्रचारार्थ १) ही है, कमीशन नहीं है।

नियमसार (पद्यानुवाद)

आचार्यदेव श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत नियमसार पर श्री युगलकिशोरजी जैन एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा (राज.) ने सुंदरतम पद्यानुवाद किया है। छोटे साइज में छपा है, मूल्य)२५ पैसा, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन।।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

''जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा''

पृष्ठ संख्या—दोनों भाग की—१५०० मूल्य—१६) रुपये

सरदार शहर निवासी सद्धर्मप्रेमी भाई श्री दीपचन्दजी सेठिया तथा उनके परिवार आदि की ओर से ''जयपुर तत्त्वचर्चा'' (भाग १ और २) बिना मूल्य प्रार्थना-पत्र मिलने पर भेंट स्वरूप भारत भर के श्री दिगम्बर जैन मंदिर एवं श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल अथवा दिगम्बर जैन संस्थाओं को ही निम्नोक्त पते पर पत्र लिखने से मिल सकेंगे। पोस्टेज -पेकिंग व्यय की वी.पी. २)८० दो रुपये अस्सी पैसे की जायेगी। प्रत्येक संस्था को मात्र एक सेट (भाग १-२) दिया जायेगा। प्रतियाँ जब तक स्टॉक में होगी तब तक दी जायेंगी।

पता - श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

अपूर्व अवसर

अमर काव्य पर प्रवचन तथा कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा तथा समाधिमरण स्वरूपादि संग्रह ग्रंथ-सेठी ग्रंथमाला द्वारा तीसरी आवृत्ति, पृष्ठ संख्या १८०

यह ग्रंथ सातिशय रोचक, आत्मिक उत्साहमय प्रबल पराक्रम और आध्यात्मिक रसास्वाद के रसिकजनों के लिये बारंबार पढ़ने योग्य है, उनकी माँग हमेशा चालू है इसलिये तीसरी आवृत्ति है। इस बार पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी के सुपुत्र पंडित श्री गुमानीरामजी कृत बृ० समाधिमरण स्वरूप तथा पंडित जयचंदजी कृत बारह भावना बढ़ायी है। मूल्य १)५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन।

चिद्विलास (आधुनिक भाषा में)

सेठी ग्रंथमाला से प्रकाशित दूसरी आवृत्ति। पृ० सं० १९६, मूल्य १-५०, थोक मंगाने पर २५ प्रतिशत कमीशन, पोस्टेज अलग। अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, ज्ञानदर्पण, अध्यात्म पंचसंग्रह, भाव दीपिकादि ग्रंथों के कर्ता, अध्यात्मतत्त्व द्रव्यानुयोग के विशेषज्ञ अधिकारी, अनुभवी विद्वान श्री दीपचंदजी शाह काशलीवाल कृत यह 'चिद्विलास' ग्रंथ जो प्रवचनसार आदि परमागम के संक्षेप साररूप है-अनेक शास्त्रों के गहन अध्ययन चिंतन के फलरूप सुंदर, रोचक और प्रौढ़ रचना है। हरेक स्वाध्याय प्रेमी को बारंबार पढ़ने योग्य है।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सूचना—मोक्षमार्गप्रकाशक की सोनगढ़ की सब प्रतियाँ बिक चुकी हैं, किंतु जयपुर में १५० प्रति हैं एक साथ १० प्रति से ज्यादा नहीं मिलेगी, ज्यादा चाहिये तो प्रथम से अपना आर्डर बुक करा देवें। अष्टपाहुड़ भी जयपुर से छपनेवाला है, आपको जितनी प्रति चाहिये इसका भी जयपुर लिखकर आर्डर बुक करा देवें।

पता—टोडरमल स्मारक भवन
ठि० ए-४, गांधीनगर रोड, बापूनगर, पोस्ट जयपुर (राजस्थान)

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा, भाग १-२ विस्तृत ऐतिहासिक चर्चा

बड़े आकार की दो पुस्तक, पृष्ठ संख्या ८५०, मूल्य १६) पोस्टेज अलग। प्रकाशक टोडरमलजी स्मारक ग्रंथमाला। उसमें आचार्य श्री शिवसागर मुनि महाराज के सामने दो पक्ष के विद्वानों द्वारा जो लिखित चर्चा हुई थी, वही इस ग्रंथ में छपवा दी है। मध्यस्थ होकर जिज्ञासुगण स्वतंत्रतया निर्णय करें। यह पुस्तकें १-सोनगढ़ भी मिलेंगी।

२- पता - टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, गांधीनगर रोड, बापूनगर, पोस्ट जयपुर (राजस्थान)।